सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- २,३: मई-जून १९

संस्थापक:
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सैंयाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

मई, जून
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख	लेखक		पृष्ठ
★ पूर्णात् पूर्णमुदच्यते	(प्रार्थना)	....	1
★ यह देवासुर संग्राम !	(सम्पादकीय)	....	2
★ रमता योगी बहता पानी	—योगी रमताराम	....	4
★ संसार विचार रूप है	—विष्णु प्रसाद व्यास		6
★ स्वप्न की अनुभूति के स्मरण से समाधि	—आचार्य चन्द्रहास शर्मा एम. ए.	....	9
★ यमों की साधना से यमराज भी डरता है ।	—श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. आचार्य बी. ए.	....	13
★ चैत्र शुक्ला रामनवमी (योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज का अवतरण दिवस)	—ब्र. श्री ओमप्रकाश पालीवाल	....	17
★ योग और स्वास्थ्य	—श्री डा. विजयसिंह	....	21
★ भारतीय जीवन में गाय का महत्त्व	—श्री प्रकाशवीर शास्त्री	....	25
★ चिर-तारुण्य की साधना	—श्री विनोबा विचार दर्शन	....	28
★ महापुरुषों के अनमोल बोल	पं. शिवकुमार वैद्य शास्त्री	....	27
★ भावग्राही जनार्दनः	—श्री राजेन्द्र प्रसाद पाठक	....	33
★ पुराणों में योगदर्शन	—श्री हरिप्रसाद शास्त्री एम. ए. वेदाचार्य	....	36

वार्षिक मूल्य 55 रुपया । एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६
अङ्क २, ३

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुक्त विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

मई, जून
१९९३

-॥ पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ॥-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः शांतिः शांति ॥

ॐ वह पूर्ण है, यह पूर्ण है । पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है । पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष रहता है ।

ईश-बृहदारण्यक-श्वेताश्वतर उपनिषदों का यह शांतिमंत्र है । यह शुक्लयजुर्वेदीय है ।

यह अनुपम गणित है जिसमें पूर्ण में से पूर्ण निकाल देने पर पूर्ण ही अवशेष रहता है ।

संयुक्त अङ्क

संपादकीय :-

यह देवासुर संग्राम !

प्रयाग के माघ मेला के अपने शिविर में एक बार पूज्य श्री गुरुदेव जी ने एक गोष्ठी में देवासुर संग्राम पर अपने जो भाव व्यक्त किये थे, यह लेख उन्हीं पर आधारित है।

—सम्पादक

पुराण साहित्य में 'देवासुर-संग्राम' का रोचक वर्णन पढ़ने को मिलता है। रोचक ही नहीं किन्तु यह वर्णन बड़ा बोधप्रद भी है। कुछ आचार्यों का मानना है कि देवासुर-संग्राम का विवरण ऐतिहासिक है किन्तु इसके विपरीत कुछ दार्शनिकों की यह भी मान्यता है कि देवासुर-संग्राम की कथा काल्पनिक है और कल्पना के आधार पर ही पुरा-युग के अद्वितीय विद्वान् भगवान व्यास देव ने उसके पात्रों और विषय वस्तु की कल्पना करके उसे मूर्त रूप देने का सद् प्रयत्न किया गया है।

इस मान्यता के पक्षधरों का यह भी कहना है कि देवासुर-संग्राम किसी युग में कभी हुआ हो या न हुआ हो किन्तु यह मानव के अन्तःकरण में समायी हुई भली और बुरी वृत्तियों का, जिन्हें दैवी और आसुरी वृत्तियों के नाम से भी पुकारा जाता है, ऐसा संग्राम है जो धरती पर मानव के अस्तित्व के साथ ही यहाँ आया और जब तक मनुष्य का अस्तित्व बना रहेगा तब तक यह उसके अन्तःकरण को आधार बनाकर वहाँ अपना वजूद भी बनाये रहेगा।

हम भी इसी मान्यता के पक्षधर हैं कि देवासुर-संग्राम का स्थान कहीं अन्यत्र नहीं है किन्तु मनुष्य का अपना मन अथवा अन्तःकरण ही उसका कुरुक्षेत्र या धर्म-क्षेत्र बना रहता है। क्योंकि अन्तःकरण में समायी उसकी अपनी आसुरी और दैवी वृत्तियाँ ही आपस में टकराकर इसे अपना युद्ध-स्थल बनाये रहती हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियों का टकराव होता रहना ही देवासुर-संग्राम है। यह संग्राम किसी स्थान या काल की सीमा में बद्ध नहीं है किन्तु यह सर्वकालिक है और सर्वत्र ही जहाँ-जहाँ मानव समूह रहता है, यह होता रहता है।

मनुष्य के मन में आसुरी और दैवी दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ सदा समायी रहती हैं और सदा आपस में एक-दूसरे से टकराती रहती हैं। जब आसुरी वृत्तियाँ

दैवी वृत्तियों से टकराहट में प्रबल बैठती हैं तब मनुष्य इन वृत्तियों के प्रभाव में आकर आसुरी, अवैदिक अनैतिक और अमानवीय कर्म करने लगता है। उसके अन्तःकरण में समाये लोभ, मोह, काम, क्रोध और अहंता उभर कर सामने आ जाते हैं और दैवी वृत्तियों को हराकर उन्हें विजयी हो जाने का अवसर ही नहीं देते। इसी को हम असुरों की देवों पर हुई विजय की संज्ञा दे देते हैं। इसके विपरीत जब अन्तःकरण की दैवी वृत्तियाँ, अहिंसा सत्य, अस्तेय, धैर्य, विवेक ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियत्व, सहिष्णुता आदि सद्गुण प्रबल होकर आसुरी वृत्तियों को उभर आने का अवसर नहीं देते तब इस स्थिति को ही देवों की विजय और असुरों की पराजय कहकर पुकारा जाता है। दैवी गुण या प्रवृत्तियाँ जब उभर आती हैं तब मनुष्य के सभी काम धर्मपरायण होने लगते हैं। यज्ञ, दान, तप, और निष्काम कर्म करना ही मनुष्य अपना जीवन-ध्येय बना लेता है। 'मनुर्भव' वेद का यह आदेश सदा उसके सामने बना रहता है और वह अपने वेद-विहित मानव धर्म से कभी पतित नहीं होता।

वह स्थिति जब दृढ़ हो जाती तब पुरुष संयमशील कर्तव्यपरायण निश्छल और पुरुषार्थी बनता है। उसमें इन सब सद्गुणों की प्रबलता इतनी अधिक हो जाती है कि वह फिर आसुरी वृत्तियों की ओर जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं करता। 'सर्वभूत-हितरता' जैसा उसका अपना आचरण बन जाता है। आचरण की पवित्रता को ही वह अपनी सबसे बड़ी मूल्यवान सम्पत्ति समझता है। और यही होता है उसका देवत्व।

पुराणादि महाग्रन्थों में कथित देवासुर-संग्राम का सारांश भी यही है कि मनुष्य अपने अन्तःकरण में समाई देव वृत्तियों को सदा विजयी बनाकर आसुरी प्रवृत्तियों को कुचलकर उन्हें उखाड़ फेंकने का सतत् प्रयत्न करता रहे। विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण की भावना भी हम सब मनुष्यों के इसी प्रयत्न में समायी रहती है। देवासुर-संग्राम की पुरायुगीन कथा का तात्पर्य भी यही है कि हम दैवी वृत्तियों के उपासक बनें न कि आसुरी वृत्तियों के। आसुरी वृत्तियों का पराभव ही मनुष्य को देवत्व की ओर ले चलने में सहायक बन जाया करता है। इसी पथ को देवयान पथ की संज्ञा उपनिषद् कालीन ऋषियों ने दी है। यही देवयान पथ ही हमारे गन्तव्य की प्राप्ति करा सकेगा।

—सम्पादक

रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी ।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी ।।

......सब धन धूरि समान !

संसार में धन का अपना विशेष महत्व होता है। बिना धन के जीवन-धर्म का निर्वाह भी नहीं हो सकता। जीवन यात्रा का न तो सुगमता से चलाना सम्भव हो पाता है और न बिना अर्थ के सुख-प्राप्ति के साधारण साधन ही उपलब्ध हो पाते हैं। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने धन की गणना चार पुरुषार्थों में की है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यही तो है पुरुषार्थ चतुष्टय। अर्थ और धन दोनों पर्याय-वाची शब्द हैं और पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म के पश्चात् द्वितीय स्थान अर्थ यानी धन को ही दिया गया है। काम और मोक्ष जैसे—अलभ्य तत्व अर्थ के बाद ही अपना तीसरा और चौथा स्थान पा सके हैं। इस स्थान-भेद के देखते हुए भी धन या अर्थ का अपना विशेष महत्व मानना ही होगा।

× × ×

महर्षि कौटल्य ने भी एक बार अपने कुछ शिष्यों की जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए यही कहा था कि संसार में सुखों का मूल धर्म में ही निहित रहता है और धर्म का मूल 'अर्थ यानी धन ही होता है।

× × ×

इन शिष्यों में से एक ने पुनः पूछा कि महाराज! धन या अर्थ का मूल क्या है? आचार्य कौटल्य का दो टूक जवाब था—अर्थ का मूल होता है राज्य। यानी अर्थ से कोई वञ्चित न रहे सभी को वह सुलभ रहे बिना किसी वर्ग भेद के, यह व्यवस्था राज्य ही को करनी होती है।

× × ×

एक और शिष्य ने आदर पूर्वक पुनः गुरुदेव से पूछा—गुरुदेव! राज्य-व्यवस्था का मूल फिर क्या होता है?

गुरुदेव बोले—राज्य व्यवस्था का मूल या आधार होता है जितेन्द्रियता। यानी जिस राष्ट्र में जितेन्द्रिय-पुरुषों या शासकों का अभाव होता है वहां राज्य-व्यवस्था स्थायी नहीं रह पाती। जितेन्द्रियत्व और पौरुष-हीनता का अभाव जिस राष्ट्र में होगा वह निश्चित रूप से पतन और पराभव को ही प्राप्त होकर रहेगा।

आगे गुरुदेव ने बिना किसी का कोई प्रश्न सुने, स्वतः कहना शुरू किया—मेरे प्यारे बच्चो ! यह सब सुनकर यह न समझ लेना कि धन ही सारे अभ्युदय और उन्नति का मूल होता है। अर्थ की उपयोगिता की भी अपनी सीमायें होती हैं। जब इन उपयोगिताओं की सीमाओं को पार करके धन आगे बढ़ने लगता है तो वह अनेक अनर्थों का कारण भी बन जाता है।

एक शिष्य ने पूछा—गुरुदेव ! अर्थ अनर्थ न बनने पाये इसका उपाय भी तो बताइए।

× × × ×

गुरुदेव का उत्तर था—अर्थ अनर्थ न बन पाये इसका उपाय एक मात्र होता है सन्तोष की महावृत्ति को अपनी मनोभूमि में लाकर स्थायी रूप से समाहित कर लेना। ऐसा होने पर तुम्हारी वाणी स्वतः यह गाने लगेगी :

गोधन गजधन वाजिधन, सर्व रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष-धन, सब धन धूरि समान ॥

और यही स्थिति योगिराज श्रीकृष्ण के शब्दों में वह स्थिति होगी जिसे गीता में 'समलोष्ठाश्मकाञ्चनः' वाली स्थिति कहा गया है और ऐसा ही अपने अनेक जन्मों के अनुभवों का निष्कर्ष बताते हुए—योगिराज जैगीषव्य ने अनेक योग-साधकों के पूछने पर अपने सभी गत जन्मों की स्मृति के आधार पर कहा था कि मुझे सर्वोत्तम सुख तो सन्तोष वृत्ति में ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने यही फिर-फिर दुहराया कि सन्तोष से बढ़कर कोई और सुख मुझे अपने किसी भी गत जीवन में नहीं मिल सका है।

—योगी रमताराम की डायरी से

मन बैरी के फन्द फंसि, भोगे दुक्ख असेस।
मनमोहन नहिं गहि सक्यौ, काल गहि लिये केस ॥

—सूबीराम लबानिया

—: संसार विचार रूप है :—

□ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

सच पूछिये तो संसार में विचार का [illegible] साम्राज्य है। विचार की प्रशंसा में यदि [illegible]कड़ों पुस्तकें लिख दी जायें, तो भी कम [illegible]होगी। जहाँ एक प्रबल विचार किसी मनुष्य [illegible] मस्तिष्क से निकला, वह अनुकूल व्याख्या [illegible] पाकर शक्तिशाली रूप धारण कर लेता [illegible] और संसार पर छा जाता है तथा सबके [illegible]स्तिष्कों से टकराकर क्रियात्मक रूप धारण [illegible]रने लग जाता है। फिर उसको रोकपाना [illegible]सका स्तम्भन-सा करना कठिन ही [illegible]हीं प्रत्युत असम्भव हो जाता है। और मनुष्य [illegible]न-बूझकर आवश्यक रूप में उसके प्रचार [illegible] आ जाता है। यह प्राकृतिक नियम है।

कथा-वार्ता-उपदेश, मन्तव्य, भाषण, [illegible], कविता आदि क्या है, विचार ही तो [illegible]। जो लोग अवसर देखकर इन विचारों से [illegible]भ उठा लेते हैं, वे देखते ही देखते उन्नतिके [illegible]खर पर पहुँच जाते हैं। जो लाभ उठाने के [illegible] से अनभिज्ञ हैं, वे हाथ पर हाथ धरे [illegible] भाग्य को कोसा करते हैं और अपना [illegible]यवान जीवन यूं ही नष्ट कर देते हैं। [illegible]लिये अच्छे विचारों से लाभ उठाने का [illegible]न रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आव-[illegible]क है।

विचार किस प्रकार अपना काम करता [illegible] उस पर एक साधारण-सा उदाहरण यहाँ [illegible]ा जाता है :

एक राजा-राज्य सिंहासन पर बैठा न्याय के कार्य में व्यस्त था। देखता क्या है कि एक साधु जिसके मुखमण्डल पर तेज है, दरबार में आ विद्यमान हुआ। राजा ने उससे सम्मान पूर्वक पूछा-आपने कैसे कष्ट किया?

साधु हंसा और बोला—मैं अपने गुरुदेव के नाम का भण्डारा करना चाहता हूँ। मुझे दो सहस्र रुपयों की आवश्यकता है। किन्तु मुफ्त का धन लेना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि तुम मेरा एक विचार लेकर उसके बदले में धन दो तो मैं ले सकता हूँ।

राजा ने सोचा कि साधु एक शुभ कार्य के लिए धन चाहता है और उसके प्रतिकार स्वरूप एक मूल्यवान उपदेश भी दे रहा है। अतएव इन्कार कदापि न करना चाहिये। यह सोचकर उसने कहा बाबा मुझे आपकी शर्त मंजूर है।

साधु ने कहा—किसी कार्य के परिणाम पर विचार किये बिना उसे आरम्भ न करो।

दरबारी मन ही मन मुस्कराये। साधु एक साधारण सी बात के लिए इतना अधिक धन माँग रहा है। परन्तु किसी को मुख खोलने का साहस न हुआ। राजा ने साधु को धन-राशि दिलवाई और वह आशीर्वाद देकर चला गया।

राजा ने साधु के इस उपदेश को अपने विशिष्ट कक्ष की दीवारों पर सुन्दर अक्षरों

में अंकित करवा दिया। जहाँ दरबार लगता था, वहाँ भी साधु के उपदेश लिखवा दिये। उसके मन को यह उपदेश इतना भाया कि उसने प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले बर्तनों अलमारियों आदि पर भी इसे लिखवा डाला। लोग मन ही मन उसकी इस कार्यवाही पर हँसते रहे, परन्तु वह अपनी धुन का पक्का था।

कुछ समय पश्चात् अकस्मात राजा बीमार पड़ा। उसके छोटे भाई ने राजवैद्य को घूस देकर विष दिलवाने की ठान ली। वैद्य लोभ के जाल में फंसकर बुद्धि से हाथ धो बैठा और विष से भरा हुआ प्याला लेकर राजा के कमरे में गया और राजा के हाथों में प्याला देकर पी जाने को कहा। प्याला राजा के हाथों में देने के उपरांत सहसा वैद्य की दृष्टि कमरे के द्वारों, दावारों, अल्मारियों के शीशों और तख्ते पर लिखे हुए साधु के उपदेश पर पड़ी कि किसी कार्य के परिणाम पर विचार किये बिना उसे आरम्भ न करो। ये शब्द पढ़ते ही वैद्य के चेहरे का रंग फीका पड़ गया।

उधर राजा का भी यह नियम बन चुका था कि प्रत्येक कार्य के आरम्भ में उस उपदेश के शब्दों को अवश्य स्मरण कर लिया करता था। उस दिन भी प्याला हाथ में लेकर उस पर लिखा हुआ उपदेश ध्यान पूर्वक पढ़ा और दृष्टि उठाकर राजा ने वैद्य की ओर देखा। राजवैद्य कांप उठा और उसके मस्तिष्क पर पसीना आ गया। राजा प्याले को मुँह में लगाना ही चाहता था कि उसने राजा के हाथों से प्याला छीन लिया और उसके चरणों में गिरकर बोला—यह कृतघ्न सेवक फांसी के योग्य है। शीघ्र ही इसका सिर कटवा दीजिये।

राजा आश्चर्य चकित-सा रह गया। पूछने पर राजवैद्य ने आद्योपांत सम्पूर्ण वृतांत स्पष्ट रूप से कह दिया। राजा ने उसका अपराध क्षमा कर दिया और मन में अत्यन्त प्रसन्न हुआ कि साधु के उपदेश के प्रस्ताव से उसका जीवन बच गया और इन गिनती के 'कुछ शब्दों' ने वह कार्य किया जो अन्य प्रकार से हो पाना नितान्त असम्भव था।

बात क्या थी? साधु ने एक विचार ही तो दिया था। राजा ने उससे लाभ उठाया, परिणामस्वरूप उसके प्राण बच गये। दरबारियों ने उस विचार को चूंकि हँसी में ही उड़ा दिया था, इसलिये उन्होंने उसे हृदयङ्गम नहीं किया और उससे लाभ न उठा पाए।

यह है एक विचार का साधारण रूप चमत्कार जो ऊपर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार विचार किया जाय तो शास्त्र सत्पुरुषों की वाणियाँ और समय-समय पर उनके द्वारा किये गये प्रवचन क्या है? यह शुभ विचारों का भण्डार है जिनके सम्मुख राजाओं के धनागार भी तुच्छ हैं, क्योंकि राजाओं के धनागार अन्त समय मनुष्य के किसी काम नहीं आ सकते, परन्तु सत्पुरुषों के सदुपदेशों का शाश्वत निधि मनुष्य के साथ जाती है। संसार में रेलगाड़ी, मोटर या वायुयान का दुर्घटना ग्रस्त हो जाना, तुषारपात अत्यधिक गर्मी अथवा कड़ाके की सर्दी के कष्टों का सामना करना अथवा किसी अन्य असाध्य रोग का सहसा आक्रमण आदि।

ऐसे अवसरों पर गांठ का धन, बैंकों में संचित धन अथवा उच्च पदों पर नियुक्त बन्धु-बान्धव आदि मनुष्य की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते, परन्तु ऐसे प्राण लेवा अवसरों पर सत्पुरुषों के दिये हुये शुभ-विचारों का प्रभाव मनुष्य की पूरी तरह सहायता करता है और लोक-परलोक में मनुष्य का रक्षक एवं सहायक बना रहता है।

श्री गुरुदेव कथन करते हैं कि रे मनुष्य संसार में रहते हुए तथा सांसारिक कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए भी तुम अपने हृदय में मालिक की प्रीति और लगन को भरते रहो। इसी विचार को अन्य शब्दों में यूँ कहा जायेगा कि प्रत्येक श्वांस में ईश्वर का नाम सुमिरण किया करो, क्योंकि ईश्वर का नाम ही सदैव मनुष्य के अंग-संग रहकर उसकी परोक्ष रूप से रक्षा और सहायता करता है।

जो सौभाग्यशाली जीव सत्पुरुषों के के शुभ विचारों को हृदयंगम करके उन विचारों के सांचे में जीवन को ढालते हैं, वे इस संसार में भी सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं और अपना परलोक भी संवार लेते हैं। इसके विपरीत जो उनके शुभ विचारों का सम्मान नहीं करते, वे अपने मूल्यवान जीवन के स्वर्णावसर को व्यर्थ ही नष्ट करके इस संसार में भी दुःखी जीवन व्यतीत करते हैं और अपना परलोक भी बिगाड़ लेते हैं।

वे सौभाग्यशाली जीव धन्यवाद के पात्र हैं जो सत्पुरुषों के विचारों के अनुसार क्रियात्मक जीवन अपना कर दोनों लोक संवार लेते हैं।

प्राणायाम से जीवनी-शक्ति की प्राप्ति

प्राणायाम द्वारा शरीर में वायु रूपी जीवनी शक्ति का संचरण करना योगी ही नहीं, साधारण मनुष्यों के लिए भी उपयोगी है। प्राणायाम से शरीरस्थ फुफ्फुसों (फेफड़ों) को ताजा और विशेष आक्सीजन की प्राप्ति होती है, जिससे कि फेफड़े सुदृढ़ होते हैं और फेफड़ों का सुदृढ़ होना ही मनुष्य के दीर्घ जीवन का रहस्य है।

प्राणायाम का तात्पर्य है सुचारू और वैज्ञानिक ढंग से श्वास-प्रक्रिया पर मनुष्य का नियन्त्रण और क्योंकि यह योगिजन प्राणायाम द्वारा सुगमता से कर लेते हैं इसलिए मानों वे मृत्यु को ही जीत लेते हैं। प्राणायाम के द्वारा शरीर में वायु भरने और निकाल देने की क्रिया तो होती ही है, परन्तु कुम्भक द्वारा वायु को भीतर रोक लेने की जो क्रिया है, वह अद्भुत सफलता प्रदान करती है। उसके अभ्यास से योगी अपने शारीरिक और मानसिक मल को भी दूर कर लेते हैं।

—एक साधक

☐आचार्य चन्द्रहास शर्मा एम. ए.

स्वप्न की अनुभूति के स्मरण से समाधि

योगदर्शन में चित्त का विशेष महत्व है। जिस प्रकार कैमरे के बाह्यरूप फोटो के रूप में अंकित हो जाते हैं उसी प्रकार चित्त पट पर शुभाशुभ कर्मों के संस्कार भी सूक्ष्म रूप में संचित होकर प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर जीव को उन्मुख करते हैं।

योगदर्शन के अनुसार चित्त की पांच भूमिकायें मानी गयी हैं, मूढ़ क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। ये भूमिकायें सतोगुण रजोगुण और तमोगुण के परिणाम भेद से त्रिगुणात्मक स्थिति की भूमिकायें हैं। एक दूसरे प्रकार का वर्गीकरण है जिसमें चित्त की नौ अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। यथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, प्रलय, समाधि प्रारम्भ, सम्प्रज्ञात (एकाग्रता), विवेक, ख्याति, असम्प्रज्ञात समाधि तथा चित्त का अपने कारण में लीन होने की प्रतिप्रसव अवस्था। जाग्रत अवस्था में सतोगुण रज और तम से दबा रहता है और रजोगुण की प्रधानता से इन्द्रियों के माध्यम से चित्त बाह्य स्थूल विषयों को कर्त्ताभोक्ताभाव से ग्रहण करता है। इस अवस्था में स्थूल शरीर द्वारा व्युत्थान के संस्कार तथा उसके परिणामों द्वारा संसार के राग-द्वेष अहंता ममता काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि का परिचय होता रहता है।

स्वप्नावस्था जाग्रत से भिन्न अवस्था है। इस अवस्था में सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण द्वारा कुछ अंशों में दब जाता है। स्थूल शरीर और स्थूल इन्द्रियों के स्थूल विषय भी रजोगुण द्वारा चित्त के विषय नहीं बन पाते। रजोगुण की क्रिया सूक्ष्म होकर मन द्वारा स्मृति के संस्कारों को चित्त से उपस्त करती है। इस समय चित्त का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से हो जाता है। सूक्ष्म शरीर शब्द, रूप, रस, गन्ध तन्मात्रिक एवं मनन, बुद्धि, चित्त, अहंकारयुक्त अन्तःकरण चतुष्टय युक्त प्रधान रूप से होता है। मन इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर कल्पना के आश्रय से सूक्ष्मभूतों के दृश्यों का अनुभव कराता है। मन कारण शरीर युक्त हो जाता है और तमोगुण की क्रिया सतोगुण को प्रभावित कर अल्प रजोगुण विद्यमान होने से सुषुप्ति दशा होती है। जब तमोगुण क्षीण होकर सतोगुण का प्रकाश प्रधान हो जाता है तब वहां से सर्वार्थ चित्त में एकाग्रता वृत्ति का उदय होता है। एकाग्रता वृत्ति से ही धारणा, ध्यान और समाधि की भूमिकाओं का प्रारम्भ होता है। सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत रूप भूमिकाओं में चित्त में सतोगुण का प्रकाश उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता

चला जाता है और अन्त में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध होकर—पुरुषार्थ

शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितशक्तिरेति। (3/34)—

पुरुषार्थ से शून्य हुए गुण अपने कारण (प्रकृति) में लीन हो जाने से प्रकृति से पुरुष का अलगाव (मोक्ष) हो जाता है और पुरुष (आत्मा) का प्रकृति के गुणों के संग से अलगाव हो जाता है। यही चिति शक्ति की स्वरूप स्थिति अथवा कैवल्य मानव जीवन की कृतकृत्यता है।

जब साधक श्रद्धापरायण होकर नियमपूर्वक स्थूल या सूक्ष्म, बाह्य या आन्तरिक किसी विषय को अपनी धारणा द्वारा चित्त का लक्ष्य बनाता है तो चित्त पर उसके संस्कार पड़ने लगते हैं। ये संस्कार टेप रिकार्डर पर किये गये टेप की तरह पूर्व व्युत्थान के संस्कारों से अधिक सशक्त होते हैं। जैसे पहले टेप की गयी वस्तु को उसके ऊपर दूसरी वार्ता टेप करके तिरोहित किया जाता है उसी प्रकार चित्त पर पड़े हुए वासना के पूर्व संस्कार धारणा और ध्यान जन्य नवीन संस्कारों द्वारा मिटते चले जाते हैं और समाधि प्रज्ञा की निर्मलता एवं उत्कृष्टता होती चली जाती है। अन्त में निरोध संस्कार प्रबल और पुष्ट हो जाते हैं। समाधि के संस्कार व्युत्थान दशा के संस्कारों को सर्वथा रोक देते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार उत्तमकोटि के योगी सतत ध्यानाभ्यासपरायण रहते हैं। जिससे समाधि जन्य संस्कार वासना जन्य संस्कारों का क्षय कर दें और पुरुष विवेक ख्याति की ओर बढ़कर चित्त को संस्कार वृत्ति शून्य कर निर्बीज समाधि में प्रवेश करा पायें। इस अवस्था में पहुँचकर चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योग दर्शन में अधिकारी भेद से अनेक साधनों का वर्णन मिलता है। यथा वीतराग महापुरुषों को अपने चित्त का विषय बनाना, ख्याति का तालु आदि स्थानों पर ध्यान करना, आदि उसी प्रकार एक सरल उपाय है। निद्राज्ञान और स्वप्नज्ञान को चित्त का विषय बनाना। योगदर्शन में समाधिपाद के अड़तीसवें सूत्र में इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है—स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा'।

कभी-कभी हमें स्वप्न में दिव्य-दर्शन इष्टानुग्रह, देवताओं की झाँकी या सत्संग का अनुभव होता है। उस अनुभव को हम जाग्रत अवस्था में बार-बार स्मृति में लाते रहें तो उस दिव्यानुभूति के सदृश से हमारा मन एकाग्र हो जाता है। ऐसा करते रहने पर हमें जाग्रत में भी ध्यान जनित आनन्द मिलता है। बुद्धि में प्रकाश और आनन्द का संचार होने लगता है। मन उसका अनुभव करते-करते तदाकार बन जाया करता है।

जाग्रत में रजोगुण की प्रधानता होने से वृत्तियाँ बहिर्मुख रहती हैं। स्वप्न में रजोगुण और तमोगुण की समान मात्रा विद्यमान रहती है अतः वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर सूक्ष्म विषयों का अनुभव करती हैं। निद्रा में तमोगुण रजोगुण को पूरी तरह दबा लेता है, अतः उस समय अभाव की प्रतीति करने वाली वृत्ति ही वहाँ रहती है। दिव्यानुभव वाले स्वप्न में सतोगुण प्रबल होता है।

जप ध्यान या कीर्तन करते-करते यदि मूर्च्छा सी आ जाय तो उस अवस्था में कुछ समय बाद मन सतोगुण से एकाग्र और अन्त-र्मुखी हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप हर्ष पुलक रोमाञ्चत्र और विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। जागने के बाद भी उस आनन्द की लहर दौड़ती है। यदि पुनः-पुनः उसका स्मरण करते रहें तो वह स्मरण ध्यान का जनक बन सकता है।

स्वप्न भी अपनेपन का बोध कराता है। जीवन में जब ऐसा संयोग बन जाय कि जो अनुभव जाग्रत में है वही स्वप्न और सुषुप्ति में भी बना रहे तो योगसिद्धि में देर नहीं। मन, वचन और कर्म में एकरूपता आ जाय तो निज स्वरूप की प्राप्ति में बिलम्ब नहीं। प्रायः हमारा जीवन एकरूपता, साम्य या सरल रेखा के स्थान पर बहुरूपिया वैषम्य तथा कुटिलता में युक्त बना रहता है और हम चाहते हैं कि ध्यान और समाधि में भी प्रवेश मिल जाय। दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं। हम अपने मन की चिन्तन की दशा में यदि परिवर्तन कर लें तो कल्पित दुःख के स्थान पर आनन्द के स्रोत से जुड़ सकते हैं। जाग्रत अवस्था में हमें ज्ञान तो होता है किन्तु विश्राम नहीं होता। निद्रा अवस्था में हमारी सारी बनावटी उपाधियों का अभाव हो जाता है। हम युवा या वृद्ध रहते हैं न हम पद और जाति वाले रह जाते हैं। हम केवल हम ही रह जाते हैं। उस अकेलेपन की स्थिति में विश्राम होता है। नींद भी मन के विश्राम का स्थान बन सकता है, यदि हम सोने से पहले अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर से समेटकर हृदय-कमल में कर लें। निद्रा ...

की पंखड़ियों के मध्य में बन्द होकर विश्राम सुख का अनुभव करता है और इसी प्रकार यदि साधक सोने से पहले मन्त्र जप एवं ध्यान द्वारा मन को एकाग्र कर वृत्तियों को चारों तरफ से समेटकर अपने इष्ट के चरण कमल का भृंग बना दे तो स्वप्न और निद्रा भी साधना बन सकती है। गोस्वामी तुलसी-दासजी सोने का बहुत सुन्दर तरीका बताते हैं—

सकल दृश्य निज उदर मेलि
सोवै, निद्रा तजि योगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख,
अतिशय द्वैत वियोगी॥

योगी का समग्र जीवन अपने ढंग का अनोखा होता है। वह जीना और मरना तथा जागना और सोना जिस अद्भुत ढंग से जानता है उस तरह संसारी जन नहीं जानते योगी कैसे सोता है? गोस्वामी जी कहते हैं—सोवै निद्रा तजि—अर्थात् नींद छोड़कर सोता है। तमोगुण की अधिकता में नींद आती है। उसमें ज्ञान पर परदा पड़ जाता है। योगी तमोगुण का परदा हटाकर ज्ञान-दशा में जागते हुए सोता है। अज्ञान रहित होकर संसार को स्वप्नवत् समझता हुआ सोता है। भगवान श्रीकृष्ण भी गीता में यही कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां
तस्यां, जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि,
सा निशा पश्यतो मुनेः॥

संसारी लोग जिस मोह ममता की स्थिति

में योगी लोग सोते रहते हैं। जिस शान में संसारी लोग सोते हैं उसमें योगी जन लगते हैं। संसार के प्राणी

मोह निशा सब सोवन हारा।
देखहि सपन अनेक प्रकारा॥

इसी स्थिति में संसार के रागद्वेष के ताने-बाने बुनते हुए बन्धन के संस्कार तैयार करते-करते जीवन यात्रा पूरी कर डालते हैं। जबकि योगी स्वप्न में भी निरोध संस्कारों को ही तैयार किया करते हैं। उनके जीवन की रहनि तो ऐसी होती है कि—'जागत सोवत सरन तुम्हारी। तुम्हहि छांड़ि गति दूसरि नाहीं रामबसहु तिन के मन माहीं॥' जागते सोते योगी का चित्त अपने इष्ट में तल्लीन रहता है। जाग्रत में ध्यान करते हैं। स्वप्न में भी वही ध्यान दिव्य अनुभवों में बदल जाता है। उन स्वप्न के अनुभवों का स्मरण करते-करते पुनः अपने ध्यान को परिपुष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न को एक रूप करते हुए योगीजन अपने जीवन को कृतकृत्य बना लिया करते हैं।

आशामय जीवन

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्
बुध्येम शरदः शतम् रोहेम शरदः शतम्
पूषेम शरदः शतम् भवेम शरदः शतम्
भूयेम शरदः शतम् भूयसीः शरदः शतात्

अथर्व. 19/67 मं। 1 से 8

अर्थ—हम सभी सौ शरद ऋतुओं तक ज्ञान की प्राप्ति करते रहें सौ वर्ष जियें। सौ वर्ष तक बुद्धि को बढ़ाते रहें। सौ वर्ष तक उन्नति करते रहें। सौ वर्ष तक पुष्ट होते रहें। सौ वर्ष तक आनन्द से रहें।

भूमेय—सौ वर्ष शुद्ध होकर रहें
तथा सौ वर्ष से आगे भी हम सब इसी प्रकार उन्नति करते रहें।

☐ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. आचार्य बी. एड.

यमों की साधना से यमराज भी डरता है।

नोट—श्रीमती सरिता भारद्वाज आचार्य चन्द्रहास शर्मा की विदुषी पत्नी हैं। आचार्य चन्द्रहास जी के समान ही आपका भी योग-साधना का अपना गहन अध्ययन है। प्रस्तुत लेख आपकी गहन अध्ययनशीलता का ही परिचायक है।

—सम्पादक

योग साधना का प्रथम सोपान 'यम' साधना है। जैसे कई मंजिल भवन बनाने के लिए मकान की नींव गहरी और मजबूत बनानी आवश्यक है, उसी प्रकार योग की चरम-स्थिति 'असम्प्रज्ञात समाधि' तक पहुँचने के लिये 'यमों' की साधना अत्यन्त आवश्यक है। यदि साधक यम-नियम का ठीक-ठीक साधन नहीं करता तो ध्यान परायण होने पर उससे उपार्जित शक्ति उसी प्रकार रिक्त हो जाती है जिस प्रकार टूटे हुए घड़े में डाला हुआ जल नीचे से रिस जाता है और घड़ा खाली का खाली रह जाता है। योगीन्द्र महाराज मनु ने तो यमों के पालन को अन्य योगाङ्गों से अधिक महत्व दिया है। उनका आदेश है कि 'यमान् अभीक्ष्ण सेवेत' अर्थात् यमों की साधना योग के प्रत्येक अंग के अभ्यास के साथ-साथ सतत् चलती रहनी चाहिए अन्यथा किसी भी अङ्ग में परिपक्वता नहीं आ पायेगी। श्री व्यासदेव जी महाराज ने तो यमों को 'सार्वभौम महाव्रत' कहा है। 'जाति देश काल समयान वच्छिन्नाः सार्वभौम महाव्रतम्' (यो. सू. 2/31)।

अर्थात् अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रह"—ये पाँच यम जीवन के सभी व्रतों से श्रेष्ठ हैं। इसीलिए इन्हें महाव्रत कहा है। ये अहिंसादि व्रत न तो जाति देश, काल या अवसर द्वारा सीमित है और न किसी अवस[र]
विशेष में किसी भी प्राणी द्वारा त्याज्य है
अतः सभी योग भूमिकाओं तथा समस्त दे[श]
के प्राणियों द्वारा पालनीय होने के का[रण]
इन्हें सार्वभौम माना गया है।

प्रायः देखा जाता है कि सद्गुरु की [कृपा]
से कोई साधक ऊँची स्थिति प्राप्त कर [लेता है]
पर यदि अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य [और]
अपरिग्रह इनमें से किसी एक व्रत में परिप[क्व]
नहीं है तो उसका पतन अवश्यम्भावी हो[ता]
है। जो इन यमों को पूर्णरूपेण साधना
लेते है वे लोकेषणा, वित्तैषणा और पुत्रैष[णा]
से पतन के गर्त में नहीं गिरते।

महर्षि व्यासदेव जी पद्मपुराण में [यहाँ]
तक कहते हैं कि कोई द्विज समस्त वेद [एवं]
उसके छः अंगों के सब रहस्यों का ज्ञा[ता]
भी क्यों न हो, यदि वह यम युक्त नहीं है
वेदज्ञान उसे पवित्र नहीं कर सकता। [यहाँ]
तक कि 'सांख्यं च योगश्च कुलं च [...]
तीर्थाभिषेकश्च निरर्थकानि'। (पद्मपु[राण]
प्र. ख. 155)।

सांख्यशास्त्र का ज्ञान अथवा योगाभ्[यास]
उच्चकुल में जन्म तथा पवित्र तीर्थों में स[्नान]
करना बिना यम साधना के निरर्थक [है]
इसके विपरीत यदि कोई मलिन कु[ल में]
जन्मा है अथवा शरीर से कुरूप है या आ[...]

थवा मंत्र और क्रियाओं से शून्य है
केले यम से ही वह समस्त कमियों
ो आच्छादित कर देता है जैसे एक
शरीर को ढक देता है। आत्म-
और यम ही शास्त्र का मूल है तथा
ानवजाति का आधारभूत धर्म है
सत्य और सनातन है। इसके पालन
का जीवन निर्दोष शुद्ध एवं दूसरे
वित्र करने की क्षमता वाला पावन
ा है। यमशील व्यक्ति जहाँ भी
वहीं तपोवन बन जाता है। उसे
खाक छानने की जरूरत नहीं

ाधना से व्यक्ति तेजस्वी बनता है।
से साधक से भय खाता है। पाप
अन्त हो जाता है। अहिंसा परायण
सभी मित्र और सेवक बन जाते
यों का अपना स्वभावजन्य वैर-
ी अहिंसापरायण योगी के पास
ा जाता है। भगवान पतञ्जलि
हिंसासाधन का फल यही कहा है।
तिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
जब योगी न स्वयं हिंसा करता है
ो प्रेरित कर हिंसा कराता है या
प्राण को मन, वाणी या कर्म से
करता है और न दूसरे द्वारा हिंसा
उसका अनुमोदन करता है तो पाप
रम्परा तथा उसके फल का सर्वथा
ाता है तो उसके सम्पर्क में आने
णी निर्भर हो जाते हैं। गोस्वामी
सा परायण जीवन का फल कहा

न निकट विहग मृग जाहीं।
बधिक बिलोकि पराहीं॥

आनन्दस्वरूप श्री प्रभुजी के पास जंगल में शेर, चीते, कुत्ते, बिल्ली की तरह बैठ जाते थे। उनके मन से उस समय वैर-भाव दूर रहता था। अहिंसा सत्य परायण साधक 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। (प. पु. 158)। अपने सुख-दुःख के समान दूसरे का सुख-दुःख समझने की बुद्धि आती है। ब्रह्मचर्य परायण व्यक्ति में 'मातृवत्पर-दारेषु'—माता के समान सभी नारियों को देखने का भाव विकसित होता है। अस्तेय अर्थात् दूसरे का धन न चुराने की साधना दृढ़ हो जाने पर 'परद्रव्याणि लोष्ठ-वत्' दूसरे का धन मिट्टी के ढेले की तरह त्याज्य है यह भावना दृढ़ होती है। अपहरण, बलात्कार, अनाचार, हिंसा की भावना बिना दण्ड व्यवस्था के योगमार्ग के यम अंग का सच्चाई से पालन करने पर स्वतः ही मूलो-च्छेद हो सकता है। भय, शोषण तथा अस-मानता युक्त समाज योग के एक अंग 'यम' के पालन मात्र से बदला जा सकता है।

यदि जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यमों की प्रतिष्ठा भरपूर हो जाय तो ऐसे साधक के लिए घर ही तपोवन बन जाता है। पद्म पुराण के प्रथम खण्ड में यमशील पुरुष की महत्ता का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं कि जो व्यक्ति शील, चरित्र, इन्द्रिय निग्रहवान तथा सरल स्वभाव वाला है उसे कहीं अन्यत्र साधना के लिए भटकने की क्या आवश्यकता है? उसके लिए घर तपोवन से श्रेष्ठ है। क्योंकि यदि मन रागयुक्त है तो एकान्त वन में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह वश व्यक्ति दोषयुक्त हो सकता है जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उसके लिए सन्तोषपूर्वक जीविकोपार्जन करते हुए घर पर ही साधना-स्थली उत्तम है।

वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणा
गृहेऽपि पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ 141

कोई भी व्यक्ति कितना ही बड़ा पण्डित हो जाय, अथवा तीर्थ या सिद्धयोग में निवास करता रहे अथवा अपने स्वार्थवश शरीर भोग के लिए अपरिमित-सम्पत्ति एकत्रित करने या सुन्दर मधुर प्रवचन और संगीत द्वारा लोगों को आकर्षित करने पर बिना यम-नियम निष्ठ हुए कैवल्य लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। जिसने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के द्वारा इन्द्रियों के भोगों से अपने मन को विरत कर अध्यात्म योग की समत्व स्थिति में अपनी बुद्धि को प्रतिष्ठित कर लिया है. उसे समाधि-लाभ अवश्य होगा।

यदि जीवन में सदाचार और सद्वृत्तियों की साधना नहीं हुई तो शक्तिपात की कृपा से शक्ति और सिद्धि पाकर अहंकारी तथा शाप देकर दूसरे प्राणियों का अमंगल करने वाला राक्षस हो जाता है। आत्म साक्षात्कार के लिए हाथी घोड़े या धन दौलत की जरूरत नहीं है। वहां तक पहुंचने का मार्ग केवल अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि जीवन वृत्त है। उपनिषद् में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि :—

'सत्येन लभ्यस्त पसा ह्येषात्मा,
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' ।

यम के अभाव में साधक अपना तथा दूसरों का भयानक से भयानक इस प्रकार का अमंगल करता है जितने सर्प या सिंह भी नहीं करते। जो योगी यमों की असली साधना करने के बाद ध्यान में प्रवृत्त होता है वह काम, क्रोध, लोभ के पहाड़ों से टकराने से

बच जाता है और उसकी साधना
नहीं आते। यम रहित साधक स्वयं ही
घोर शत्रु है उसे बाहर के शत्रु पैदा
आवश्यकता नहीं है।

यम दो प्रकार का होता है—
और विशिष्ट। सामान्य कोटि का य
कता और सदाचार की कोटि का
व्यक्ति की आत्मा का पाथेय नहीं बन
सभी पंथों के अनुयायी किसी न किसी
इन पाँचों यमों को आवश्यक मानते
पंथ में तो अहिंसा को ही परमधर्म
कर अलग मत की स्थापना ही कर
विशिष्ट कोटि का यम यह है जो आ
स्वरूप प्रतिष्ठा करा सके। पद्म पु
ऐसे यम को ही वास्तविक एवं विशिष्
का यम माना है। यथा :—

न यम यममित्याहुरात्मा
वै यम उच्यते ।
आत्मा वै यमितो येन
स यमस्तु विशिष्यते ॥

यमो यम इति प्रोक्तो
वृथैव उद्विग्नते जनः ।
आत्मा वै यमितो येन
यमस्तस्य करोति किम् ॥

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, तथा
पर बड़े अनात्म संस्कारों का नियन्त्
वास्तविक यम है। जिसने अपनी आ
यम से ओत-प्रोत कर लिया उसका
क्या बिगाड़ सकता है। यम साधन
परिपक्व हो जायेगी तो जीवन में नि
समता, संकल्प शक्ति की अमोघता
पदार्थों की इच्छामात्र से प्राप्ति तथा
उत्साह, ओज, तेज और ईश्वरीय
भर जायगा।

…ग्यगीत :-

द्वन्द्वों से आवेष्ठित जीवन

□ डा० श्री मंगलदेव शास्त्री

1. पङ्क से पद्म उत्पन्न होता है,
रात्रि से दिन का जन्म होता है,
ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा आती है,
विद्युत् मेघ जन्म लेती है।

2. शुक्लपक्ष का प्रारम्भ कृष्णपक्ष के अनन्तर होता है,
काँटों से व्याप्त पौधों से सुन्दर पुष्पों का उद्गम होता है।

3. दास्य से स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है,
रोग के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ होता है,
जहाँ दारिद्र्य है वहीं सम्पत्ति आती है,
कष्टमय तप से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

4. कन्या के गर्भ से व्यासादि महात्माओं का जन्म होता है,
शूद्रों से भी सन्तों का जन्म होता है,
अज्ञानियों को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

5. इस सृष्टि में जब सब ओर यह बात दिखाई दे रही है,
तब किसी भी दुरवस्था में निराश होना उपयुक्त नहीं है।

6. जगत् का पोषण करने वाले, लोकों के स्वामी भगवान् की
विश्व का कल्याण करने वाली प्रवृत्ति
बुद्धिमानों में सदा श्रद्धा और विश्वास को उत्पन्न करती है।

7. इसलिए 'सारी दुरवस्था अच्छी स्थिति का पूर्वरूप हुआ करती है,
एवं दुःख का आगमन भी कल्याण के लिए ही हुआ करता है।'

8. इसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर
धैर्य-धुरन्धर धीर लोग निर्भयता के साथ
सदा उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज का अवतरण दिवस

—॥ चैत्र शुक्ला रामनवमी ॥—

□ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाशजी पालीवाल

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

अध्यात्म अर्थों में श्री रामनौमी :— गोस्वामी श्री तुलसीदास जी भगवान श्री राम के जन्म का विवरण देते हुए लिखते हैं—

जोग, लगन ग्रहवार तिथि,
सकल भए अनुकूला।
चर अरु, अचर हर्षयुत,
राम जनम सुख मूला॥

जब राम (ब्रह्म) हमारे आन्तरिक जीवन में अथवा बाह्य संसार में अवतरित होते हैं तब, देश और काल की समस्त परिस्थितियाँ अपनी प्रतिकूलताओं का परित्याग कर हमारे अनुकूल हो जाती है। जैसा कि भगवान राम के प्राकट्य की पूर्व भूमिका में तुलसीदास जी ने काल और प्रकृति की अनुकूलता का वर्णन किया है। अतः भक्त को ग्रह, नक्षत्र, प्रकृति को अनुकूल बनाने का अलग-अलग प्रयास नहीं करना है; फिर भी उसे ईश्वर को अनुकूल बनाने की साधना तो करनी ही होगी। ईश्वर हमारे आन्तर अथवा बाह्य जीवन में अभिव्यक्त हो, इसके लिए हमें किन परिस्थितियों का निर्माण करना होगा, इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्री राम के प्राकट्य के पहले मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र आदि का विस्तृत उल्लेख करना आवश्यक समझा।

बाह्य देश में और काल की ही भाँति हमें आन्तर जीवन में भी इसी प्रकार के देश और काल की सृष्टि करनी होगी। भगवान राम के प्राकट्य के लिए जिस भाव-भूमि की अपेक्षा है, उनकी दृष्टि में उसकी सर्वश्रेष्ठ प्रतीक—स्थिति नौमी ही हो सकती है। यों तो परम्परा में भी तिथि के नाम से राम-जन्म का स्मरण किया जाता है। मास, पक्ष या नक्षत्र को सीधे राम-जन्म से सम्बद्ध न कर हम उस स्मृति को सीधे तिथि से जोड़कर रामनवमी कहकर पुकारते हैं।

अङ्क शास्त्र में 'नौ' का एक विलक्षण स्थान है। इस विलक्षणता को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर उसकी तुलना 'शून्य' से ही की जा सकती है। ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक या तो 'शून्य' है अथवा 'नौ'। 'शून्य' यदि निर्गुण निराकार का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है तो सगुण मानकर ईश्वर की व्याख्या के लिए 'नौ' से बढ़कर कोई अन्य अङ्क उपयुक्त नहीं हो सकता। इसके अन्तराल में 'एक' से लेकर 'आठ' तक के अङ्क मानो शेष प्रकृति के परिचायक हैं। शून्य का प्रचलित अर्थ है—'कुछ नहीं।' फिर भी वह है। क्योंकि उसके बिना अङ्क शास्त्र ही अधूरा रह जाता है। शून्य को जैसे न तो 'है' ही कहा जा सकता है और न तो 'नहीं।' यही स्थिति निर्गुण निराकार ब्रह्म की है—नासत्तन्नासदुच्यते। इसके पश्चात् एक से सृष्टि का श्रीगणेश होता है—उसका निश्चित

मूल्य है। इस तरह प्रकृति का विस्तार आठ के अङ्क तक होता है और इसके पश्चात् नौ के रूप में पुनः पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

"प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अविनाशी ॥

एक से लेकर आठ तक का अङ्क प्रकृति की परिवर्तनशीलता का परिचायक है। परिवर्तन और घटना—बढ़ना उसका स्वभाव है, किन्तु नौ की पूर्णता तक पहुँचकर ब्रह्म की एक रसता का परिचय प्राप्त होता है।

"दुगुनो तिगुनो चौगुनो पंचषष्ट अरु सात।
आण्दते पुन नौ गुनौ नौ के नौ रहिनाव॥

गोस्वामी जी के "राम ब्रह्म पर मारथ रूपा" का परिचय देने के लिए नौ से अधिक कोई उपयुक्त अङ्क नहीं है। उपासकों के लिए नौ के अङ्क का विशिष्ट महत्व है। ईश्वर की उपलब्धि के लिए भक्ति साधना की अपेक्षा है, वह भक्ति भी नौ रूपों में विभक्त है। अतः नौमी को प्रभु राम का प्राकट्य नवधा भक्ति की समग्रता में ईश्वर की प्राप्ति का परिचायक है। ईश्वर के अवतार का तात्पर्य केवल भाव अथवा विचार की भूमि में ईश्वर को पाना ही है।

अवतार का तात्पर्य है जब ब्रह्म स्वयं देहधारी होकर हमारी इन्द्रियों का विषय बन जाए। निर्गुण निराकार के रूप में वह सब का प्रकाशक तो है ही पर उस स्थिति में वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियाँ और शरीर की सार्थकता तो ब्रह्म के सगुण साकार बन जाने में है। भगवान का अवतार वस्तुतः इस द्वार पुर (शरीर) को धन्य बनाने के लिए है। मानव शरीर में जो नौ इन्द्रियाँ हैं वही मानो इस नगर के नौद्वार हैं। "नव द्वारेपुरी देही" इस नव द्वार पुरी अयोध्या देह की धन्यता तो नौमी में महाप्रभु श्रीराम को अभिव्यक्त कर लेने में ही है। विनय पत्रिका में कहा है।

आठई आठ प्रकृति पर निरविकार श्रीराम
केहि प्रकार पाइय हरि,
हृदय बसहि वहु काम ॥9॥
नवमीं नवद्वार-पुर बसि जेहि
न आपुनल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमण
दास न दुख लीन्ह ॥10॥

उस द्वार की सार्थकता ही क्या जिसमें ईश्वर का शुभागमन नहीं हुआ। वह घर मुर्दा है जिस घर में प्रभु राम का वास नहीं है। इस तरह नवमी हमें नवद्वार पुर को सार्थक बनाने का सन्देश देती है।

नवमी ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से रिक्ता-तिथि है। सांसारिक अर्थों में रिक्तता एक दोष है, पर यह रिक्तता ईश्वर की उपलब्धि के मार्ग में दोष न होकर गुण ही है, जहाँ रिक्तता के साथ अभाव की अनुभूति है, वहीं वस्तुतः ईश्वर की आवश्यकता भी है। जहाँ विचारों के दोषों की भीड़भाड़ है वहाँ ईश्वर । न आना न प्रगट होना तो स्वाभाविक ही है क्योंकि विषय वासना से रिक्त चित्त में ही प्रभु प्रगट होते हैं। सांख्य सूत्र के अनुसार "ध्यानं निर्विषयं मनः" चित्त का विषयों से रिक्त निर्विषय होना ही ध्यान है। उस वृत्ति निरोध अवस्था को योग-समाधि कहा है। तो प्रभुराम अपने अवतरण के लिए उस मन वुन्यातिथि को सौभाग्य प्रदान करें यह स्वाभाविक ही था।

शुक्ल-पक्ष में प्रभु का प्राकट्य हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। चैत्र मास में दिन बड़ा और रात्रि छोटी होती है अर्थात् प्रकाश की मात्रा अधिक

रात्रि के अन्धकार की मात्रा कम होती है। हम को भी यह देखना चाहिए कि हम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहे हैं अथवा प्रकाश से अन्धकार की ओर उन्मुख है, वहाँ शुक्ल पक्ष हमें सघन अमावस्या के अन्धकार से पूर्णिमा के उज्ज्वल प्रकाश तक पहुँचाता है। प्रत्येक जीव ईश्वर का अंश है इसलिए उत्तराधिकार में उसे प्रकाश की उपलब्धि हुई है। किन्तु अन्धकार भी सृष्टि का एक अंग है।

ब्रह्म की सृष्टि का यह उत्तराधिकार उसे लेना ही होगा, हम अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहे हैं? पूर्णिमा की मधुमयी रात्रि के समान क्या हमारे जीवन में उस पूर्ण-प्रकाश का प्राकट्य हो गया है? अथवा विषय वासना के घनीभूत अन्धकार ने क्रमशः हमारे आत्म चन्द्र को ढक लिया है।

हमारा जीवन भी दो भागों में विभाजित है। एक भाग वह है जो दिन समान लोग की आँखों के सामने है, पर उसका वह अदृश्य भाग जो लोगों की दृष्टि से ओझल है। वह वह दिन के हमारे उज्ज्वल चित्र से भिन्न केवल अन्धकार से आच्छन्न है अथवा उसमें भी भाव चन्द्र की उज्ज्वल प्रकाश अपनी शीतलता बिखेर रहा है।

हमारा अन्तरमन, जीवन शीतलता, और आह्लाद से पूर्ण है या उन रात्रियों में हमारे अन्तःकरण में मात्सर्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान आदि चोर सक्रिय हो रहे हैं। जीवन की सफलता तो इसी में है कि यदि हमारे आन्तर जीवन में भावचन्द्र की किरणें रस की सृष्टि कर रही हैं। शुक्ल पक्ष दिन और रात्रि दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण है।

भगवान राम ने अपने चरित्र के माध्यम से जो आदर्श प्रस्तुत किया उसमें भी सूर्य और चन्द्र का यही समन्वय विद्यमान है। उनका चरित्र ज्ञान और प्रेम दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण है। श्रीराम सूर्यवंश में अवतरित हुए थे और भगवान श्रीकृष्ण, चन्द्र वंश में। श्रीराम और श्रीकृष्ण एक ही ब्रह्म तत्त्व के सिक्के की तरह दो पहलू हैं। ठीक इसी तरह श्री प्रभुश्री रामलालजी राम की तरह सूर्यवंशी तथा गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज श्रीकृष्ण की तरह चन्द्रवंशी ही हैं। ये दोनों भी एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह देखने में दो लेकिन तत्त्वतः एक ही हैं।

श्री प्रभुजी के अवतार का अध्यात्म रूप– श्रीरामनौमी के दिन प्रभु रामलाल के रूप प्रगट होकर आगे चलकर वही प्रभु रामलाल हो गये। श्री प्रभुजी का अमृतसर में प्रगट होने का अर्थ है कि अमृत के सरोवर तालाब में जन्मा हो। अमृतकुण्ड से तो ब्रह्म ही अवतरित होता है जो जरा-जन्म-मरण से परे है। इस प्रकार आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का जन्म अमृतकुण्ड रूप अमृतसर में हुआ। यह ब्रह्म-ब्रह्माण्ड कुण्ड में अवतरित हुआ।

श्री प्रभुजी की माता का नाम भागवती था। उस माता का इससे बड़ा परम सौभाग्य और क्या हो सकता कि जिसके गर्भ से साक्षात् पूर्ण ब्रह्म प्रभुराम प्रगट हों। उसी माँ के भाग्य उज्ज्वल हैं जो अपने गर्भ से भगवत्ता को प्रगट करे। भगवत्ता को जन्माने वाला जीव ही इस संसार में परम सौभाग्यशाली है बाकी तो सभी जीव इस अर्थ में अभागे ही हैं। श्री प्रभुजी के पिता श्री गण्डारामजी ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। पंडित गण्डाराम ज्योतिषी के यह ब्रह्म ज्योति प्रभु रामलालजी की दिव्य ज्योति प्रगट हुई अर्थात् ज्योतिर्मय ब्रह्मलीन योग मार्तण्ड रूप प्रकट हुए। प्रभु रामलालजी की अखण्ड दिव्य

ज्योति प्रगट हुई। जो सबके भूत-भविष्य और वर्तमान को जानने वाले त्रिकालज्ञ सद्गुरु प्रगट हुए अब जिसके गृह में गुरु आया, गुरु प्रकट हो गया, और फिर गुरु तो साक्षात् परम ब्रह्म है तो इस प्रकार भी भगवान ही प्रगट हुए।

जिसके गृह में गुरु प्रकट हो गया, उससे बड़ा शुभ मुहूर्त, शुभ घड़ी और कौन-सी होगी। और उससे बड़ा संसार में भाग्यवान् और कौन होगा ? इससे बड़ी उपलब्धि जीवन में और क्या होगी ? इससे बड़ा अन्य लाभ भी नहीं है। वही प्रभुराम की अखण्ड दिव्य ज्योति सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के घर में अवतरित होकर प्रभुराम की ज्योति में अनन्त शिष्य रूपी दीयों को ज्योतिर्मय किया तथा उसी प्रकाश से महाप्रभुजी के नाम को प्रकाशित किया व उजागर किया। वही प्रभु-राम की अखण्ड ज्योति गुरुदेव के द्वारा मेरे अन्धकारमय जीवन को प्रकाशित कर रही है। मुझ ओमप्रकाश में उसी दिव्य ज्योति का प्रकाश है। ✱

—: श्री प्रभुजी की जन्म स्तुति :—

दोहा— रामलाल कलिकाल में, लेकर कला अनन्त।
जग तारण कारण प्रभु-प्रगट भये भगवन्त॥

छन्द— भए प्रगट कृपाला, प्रभु रामलाला भागवंती हितकारी।
हर्षित महतारी, प्रभु अवतारी, सुत निज रूप निहारी॥
श्री गेण्डाराम नन्दन, आनन्द कन्दन, अमृतसर प्रभु प्राप्त्ये।
मुख तेजनिराला, नयन विशाला, नारायण नर रूप लहे॥
कह दोउ कर जोरी, अस्तुति तोरी, केहि विधि करू अनंता।
योगी मन रंजन, भवभय भंजन, मायातीत भगवंता॥
करुणा सुख सागर, योगदिवाकर, ऋषि-सिद्धि तेरा चवर ढरें।
कलिमल हारी, हे त्रिपुरारी, देवी-देव सब गान करें॥
योगी योग माया, रूप छिपाया, निराकार साकार भये।
सुर-नर किन्नर, सत, शिव, सुन्दर, आरति कर तेरे चरणमें॥
घट-घट वासी, योग प्रकाशी, रामरमो तुम जन-जन में।
जाऊ बलिहारी, ओम् तुम्हारी, ज्ञान प्रकाश भरो मन में॥
वेद पुराना, स्तुति गाना, ब्रह्म, विष्णु गुणगान करें।
मायातीता, चरित पनीता, दशवें द्वार शिव ध्यान धरें॥
दीन के बन्धु, करुणासिन्धु, अतिपतितों के पाप हरें॥
अन्तर्यामी, तुम्हें नमामी, ओम के घट प्रभु वास करो।
तुम्हें जो ध्यावे, गुरु पद पावे, मम उरयोग प्रकाश भरो॥
कीन्हो प्रभु लीला, अतिप्रिय शीला, विधि भांति धरि रूपा।
प्रभु चरित जो गावहि, भवतरि जावहि, तेत परहिभव कूपा॥

दोहा— सकल जीव संकट हरन, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा, प्रभु अवतरेऊ परं ब्रह्म सुख सार॥
ब्राह्मण कुल दिनकर प्रभु भगवंती सुतराम।
अमृतसर अवतारले, रामलाल प्रभु नाम॥

योग और स्वास्थ्य

प्रो. डा. विजयसिंह

योगेश्वर श्रीकृष्ण का गीता में उपदेश किया हुआ एक कथन है—"युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु । युक्त, स्वप्ना व बोधस्य योगो भवति दुःखहा" जिसका तात्पर्य है योग मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रोगों को दूर कर समस्त कष्टों का निवारण करता है, यदि हमारा आहार (विश्राम और व्यवहार) तथा शारीरिक चेष्टायें—सोना, उठना, लौकिक कर्मों का सम्पादन युक्त (नियमानुवर्ती) हो । आज इस वार्ता का सम्पूर्ण सार, प्रश्न और समाधान भगवान के कथन "योगो भवति दुःखहा" में सिमिटा हुआ है । स्वस्थ कोई क्यों रहना चाहता है ? मूल प्रश्न यह है । कोई भी व्यक्ति दुःख को सहज स्वाभाविक रूप से स्वीकार नहीं करना चाहता । अस्वस्थ का सीधा अर्थ है दुःखी । स्थूल शरीर के कष्टों से अथवा मानसिक व्याधियों से ग्रस्त व्यक्ति का जीवन कष्टों का पर्वत बन जाता है । वर्तमान समय में थोड़ा भी अस्वस्थ होने पर लोग पेटेंट दवायें खाने लग जाते है, बिना चिकित्सकों के परामर्श के परिणामतः प्रतिक्रियाओं के कारण एक कष्ट से छूटकर दूसरे रोगों के जाल में पड़ जाते हैं । प्रकृति के नियमों को समझकर जीवनयापन करने से हमारा स्वास्थ्य रक्षण होता है । शरीर स्वस्थ होने से हमारा अन्तःकरण निर्मल होता है । इसका प्रभाव न केवल स्वयं के लिए अपितु पूरे समाज पर होता है ।

योग-शास्त्र में आरोग्यता प्राप्त करने के नाना विधान बताये गये हैं । यद्यपि इन योगासनों, बंध, मुद्राओं तथा हठयोग की क्रियाओं का सम्बन्ध मूलतः परमार्थ मूलक है फिर भी अधिकतर लोग इनके द्वारा आज शारीरिक आरोग्यता प्राप्त करते दिखाई पड़ते हैं । योगशास्त्र करने से शरीर की सभी नाड़ियों की शुद्धी अवश्य होती है । नाड़ी शुद्धी का होना मन की एकाग्रता का एक खास साधन है । हमारे परमाराध्य योगिराज श्रीचन्द्रमोहनजी सद्गुरु महाराज विद्यार्थियों तथा बौद्धिक कर्मियों को सदैव नियमानुवर्तिता से योगासन, जीवन तत्व क्रियायें तथा नेती, कपाल भाति और वर्ष में एकाधबार बस्ती कर्म द्वारा आमाशयी मलों को शोधन करने का उपदेश देते थे । परिणामतः स्वाभाविक मानसिक एकाग्रता लोगों में थोड़े ही समय में दिखाई पड़ने लगती थी ।

योग से ही सम्पूर्ण स्वास्थ्य की उपलब्धि सम्भव है । परन्तु योग की क्रियाओं को बड़े ही संयम-नियम तथा तत्वदर्शी योगियों के संरक्षण में रहकर सीखना चाहिए । युक्त जीवन न जीने वालों के लिए क्रियायें लाभ की जगह हानि भी पहुँचा सकती हैं ।

कहावत् है— देखा-देखी साधे योग, छीजे काया बाढ़े रोग।" यथार्थतः बहुत कम ही लोग योग के बहिरंग और अभ्यान्तर स्वरूप को जानने समझने वाले हैं। अतः इस ओर जितना प्रयोग अतीत में हुआ है उसे पुनः प्रामूल करने की आवश्यकता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने योग के प्रभाव को अब मानना शुरू कर दिया है। दिल्ली में 1968 में हुये विश्वयोग सम्मेलन के परिणामतः मुझे यह आभास होने लगा है कि भविष्य में आधुनिक विज्ञान अवश्य ही भारतीय प्राच्य योग विद्या का उपयोग मानव जीवनोत्थान के लिये कर सकेगा। योग में शरीर के तीन वर्गीकरण किये गये हैं। स्थूल शरीर जो अस्थि मांस मज्जा, रक्त तथा ग्रंथियों, उपग्रंथियों नाड़ी तन्त्र एवं प्राण के पूर्ण प्रभाव में है।

दूसरा सूक्ष्म शरीर जो मूलतः मन, बुद्धि, चित्त अहंकार का बना हुआ है। तीसरा कारण जो विशुद्ध चिन्मय तत्व तथा अहं का बीज रूप है। तीनों शरीर की स्वस्थता योग द्वारा ही सम्भव है। "धर्मार्थकाम मोक्षाणाम आरोग्य मूलमुत्तमम्" (मनुस्मृति) धर्म, धन काम और मोक्ष सभी उत्तम आरोग्य तन के द्वारा ही सम्पादित होती है। जिसे भी अध्यात्मिक सुख-भोग की चाह है उसे भी योग द्वारा ही पूर्ण किया जा सकेगा।

अब हम यह बताना चाहते हैं कि योग द्वारा स्वास्थ्य लाभ हेतु क्या करना चाहिये और क्या नहीं। करना चाहिए।

यौगिक क्रियाओं से पूर्णतः लाभ प्राप्त करने के लिये हमें अपने आहार, व्यवहार पर नियन्त्रण करना होगा। युक्ताहार पहली शर्त है। सात्विक भोजन करना चाहिये। आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धना। रस्या स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्विक प्रिया। सात्विक आहार का तात्पर्य यह है कि वह खाद्य पदार्थ जो आयु वर्धक हो, शुद्धि बुद्धि देने वाला हो, बल बढ़ाता हो, आरोग्यता देने वाला हो, सुखकर हो जो हृदय को पुष्टि करता हो। यह सब गुण तो घृत, दूध मक्खन, गेहूँ, चना, जौ, दाख रसीले फल मौसम के अनुसार तथा लौकी, बथुआ, चौराई पालक-मेथी के साग और पवित्र कंद आदि सात्विक आहार योगियों ने निर्दिष्ट कर रक्खा है। इनका ही सेवन करना चाहिए।

सोना उठना तथा हर चेष्टा नियमित होनी चाहिए। भोजन खूब चबाकर करना चाहिए। आधा पेट ही भोजन करना उचित होगा। पर्याप्त जल समय समय से लेते रहना चाहिए। व्रत उपवास योग करने वालों को कदापि नहीं रहना चाहिए। युक्त-विहार के लिये ब्रह्मचर्य व संयम भी आता है। खास तौर से विद्यार्थियों को जो योग से फायदा उठाना चाहते हैं उन्हें वीर्य के महत्व को समझना चाहिए। अश्लील पुस्तकों से, कामुक दृश्यों से बचाते हुए ही योगाभ्यास करने से पूर्णतः शारीरिक आरोग्यता प्राप्त होता है। हल्का प्राणायाम ब्रह्मचर्य धारण करने में सहायक होता है। परन्तु प्राणायाम जानकार शिक्षक के संरक्षण में ही सीखना उचित होगा।

कड़वे-खट्टे, चरपरे, अत्यधिक, नमकीन अत्यन्त गरम तीखे रूखे शरीर में दाह पैदा करने वाले तथा बासी भोजन का सर्वथा त्याग ही उचित है अन्यथा आरोग्यता की जगह व्याधि ले लेगा। अन्य व्यायाम तथा योगासनों एवं यौगिक क्रियाओं में खास भेद है। इन क्रियाओं से शरीर के नाड़ी तन्त्रों में क्रियाशीलता बढ़ जाती है, जिसके परिणामः स्वरूप जो भी आहार हम ग्रहण करते हैं उनके सार तत्व को तन्त्रिकायें ग्रहण कर लेती हैं।

यदि हम उपरोक्त वर्णित ढंग से आहार करते हुए योग करेंगे तो दुष्परिणाम प्राप्त होगा। शरीर में विकार आने लगेंगे। इसमें योग का कोई दोष नहीं अपितु अयुक्ताहार ही कारण होगा। योग द्वारा सभी स्नायु सबल हो जाते हैं। शरीर के सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों में समुचित रस-रक्त पहुँचकर पोषण करता है। योगासनों के द्वारा जल्दी वीर्य शरीर में व्याप्त होकर ओज तेज में परिवर्तित हो जाता है। परिणामतः स्मृति एवं प्रज्ञा का विकास सहज ही हो जाता है।

अपने शरीर के अंग-प्रत्यंग को स्वस्थ चुस्त और कार्य कुशल बनाना तथा मन स्फूर्ति से भरा हो इसके लिये हमें जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान् श्री कृष्ण के उपदेशानुसार युक्ताहार-विहार का आचरण करते हुए अवश्य योग का अनुसरण करना चाहिए जिससे सर्वदुःखों का ह्रास सम्भव है। शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" शरीर ही सब प्रकार के कर्मों का पालन करने वालों का प्रथम साधन है। इसे योग द्वारा स्वस्थ रखकर हम अपने राष्ट्र को भी मजबूती प्रदान कर सकते हैं।

चित्तं मन्त्रः

चैतन्य चित्त पर प्रकाशित आत्मा का प्रज्ञान है यहाँ उसे मन्त्र की उपाधि दी गई है। चित्त को मन्त्र क्यों कहा गया? यह विचारणीय है। मन्त्र किसी विद्या की सिद्धि का साधन होता है। मन्त्र के जपादि द्वारा तत्सम्बन्धी विद्या की जागृति चित्त में ही होती है, इसलिए विद्या का वास्तविक स्थान चित्त है। 'मननात् मन्त्रः', जपादि तो चित्त की क्रिया मात्र है, अतः मन्त्र का स्थान गौण है।

यह पहले कहा जा चुका है कि गुरु मन्त्र द्वारा दीक्षा देते हैं। यहाँ पर जो चित्त को मन्त्र कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि वेध दीक्षा में स्पर्शादि द्वारा ही शक्ति का जागरण हो जाता है, मन्त्र की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि चित्त में शक्ति का प्रादुर्भाव होने पर मन्त्रचैतन्यवत् लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। चेतन होने के कारण ही शक्ति चिति-शक्ति कहलाती है जो चिन्मात्र ब्रह्म की शक्ति है। चित्त को चिति-शक्ति की ग्रन्थिवत् समझना चाहिये। मन्त्र की शक्ति का मूल तो चिति-शक्ति ही है। चिदाकाश और चित्ताकाश भी क्रमशः चिति और चित्त के पर्याय हैं जिन में बिना किसी की सहायता के अनेक विद्याओं की जागृति देखी जाती।

पढ़िये और समझिए—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥

अर्थात् सोने वाला कलियुग में रहता है बैठने वाला द्वापर में खड़ा होते हुये त्रेता में आता है और चलने लगे तो कृतयुग में पहुँच जाता है । खड़ा रहना, बैठना, घूमना, सोना ये कर्म ज्ञानी भी करता है जैसा कि दूसरे संसारिक लोग । उक्तन्तम्— मल-मन्त्र-विसर्जन आदि संस्कार यह करता है और अपना अन्न-भाग भी लेता है । इसके अलावा और भी कुछ करता है—किमपि ईहमानम् । ईह का अर्थ करना या इच्छा है । ज्ञानी अपने स्वभाव के अनुसार और भी कुछकरता है । स्वभावमन्यत् किमपीहमानम् । फिर भी वह अपने-अपने को जानता नहीं यानी कि वह नहीं जानता कि ये क्रियाएं मैं कर रहा हूँ । वे होती रहती हैं पर उसे इसकी अनुभूति नहीं होती कि 'मैं कर रहा हूँ ।'

मुझे एक मिसाल याद आती है : गाड़ी के डिब्बे में दो आदमी थे । एक लेटा था तो दूसरा घूम रहा था लेटने वाले ने दूसरे से पूछा, 'क्यों घूमते हो ?' तो उसने कहा कि गाड़ी की गति 40 मील है और मैं चार मील की गति से चल रहा हूँ ? दोनों गतियां इकट्ठी हो जाएं तो गतियां 44 मील की गति आयेगी और मैं जल्दी पहुँचूंगा । यह मनुष्य की मूर्खता । कुछ कामना वह ईश्वर की गाड़ी में बैठा है और उसमें अपनी गति भी मिलना चाहता है । यानी अहंकार ले लेता है । कर्त्ता तो ईश्वर हैलेकिन अहंकार के कारण हम व्यर्थ ही यह बोझ उठा लेते हैं । एक मिसालऔर, जो मैं बहुत दफा कह चुका हूँ । एक मनुष्य घोड़े पर बैठा था । उसके पास सामान की एक गठरी थी । उसे लगा कि घोड़े का भार कुछ हलका करना चाहिये । तो उसने घोड़े की पीठ पर की गठरी अपने सिर पर ले ली ।

दुनिया का भार ईश्वर पर है ही । मनुष्य समझता है कि ईश्वर का बोझ कम करने के लिए थोड़ा भार मैं ही उठा लूं । पर क्या यह हो सकता है ? एक बार घोड़े का भार हम हलका कर सकते हैं घोड़े से उतर कर । लेकिन ईश्वर का भार कम नहीं कर सकते क्योंकि हम उसके सिर पर बैठे हैं । यह समझने की बात है लेकिन यह न जानते हुए मनुष्य-समझता है कि मैं ईश्वर का थोड़ा भार हलका कर दूं । ज्ञानी पुरुष यह भार नहीं उठाता । वह अपनी आत्म-स्थिति में बना रहता है ।

ज्ञानदेव महाराज ने कहा है, प्रेमवाहूनिरोमा ने पं—हम अपने बालों का बोझ उठाते हैं, लेकिन यह बोझ महसूस नहीं करते । उसका भार हम पर नहीं आता । इसी प्रकार ज्ञानी जो कर्म करता है उसका भार उसे नहीं होता बालों के भार के समान वह सहज हो जाता है । (भागवत् धर्म कथासार)

भारतीय जीवन में गाय का महत्व

श्री प्रकाशवीर शास्त्री

समृद्धि और शान्ति का स्रोत

धेनुः सदनं रयीणाम् ।

गायें सम्पत्तियों का भण्डार है ।

—अथर्व 11-1-34

भारतवर्ष आरम्भ से ही कृषि-प्रधान देश रहा है. खेती को यहाँ सर्वोत्तम आजीविका माना गया है. व्यापार और नौकरी तो दूसरी एवं तीसरी श्रेणी की जीविका कहलाती थी । यज्ञ के धूमों से इस देश का वातावरण सदैव सुगन्धित रहता था । हृष्ट-पुष्ट जीवन व्यतीत करने वाला इस देश का नागरिक या तो अपने कार्य में ही मस्त रहता था अथवा फिर रिक्त समय में निकटवर्ती आश्रमों में जाकर उन सन्तों की संगति करता था जो उस समय हमारी पुनीत वैदिक संस्कृति के पहरेदार बनकर तपोमय जीवन व्यतीत कर रहे थे और आर्यावर्त की सामाजिक व्यवस्था में सत्य, न्याय और शान्ति को सुरक्षित रखे हुए थे । अतिथि-सेवा इस सांस्कृतिक देश की अपनी अमर मर्यादा थी जिसके चिह्न प्रत्येक द्वार पर और गाँव के बाहर देखने को मिलते थे । सत्य वाणी और व्यवहार में ही नहीं, भारतीय जीवन में स्पष्ट बोलता हुआ-सा प्रतीत होता था । सदाचार और स्वावलम्बी जीवन इस देश की अपनी अनुपम निधि थी । राजा, वाणी से नहीं अपने व्यवहार से प्रजा के सेवक होते थे । अभिमान या शासकीय मद उनके पास तक होकर नहीं निकल पाता था ।

उचित और राज्यहित में आने वाली प्रजा की माँग को ठुकराने के उदाहरण भारतीय इतिहास में देखने पर भी नहीं मिलते । और फिर उन राजाओं पर भी कोई अंकुश न हो सो बात नहीं । वह निर्लेप और तपस्वी सन्त जो जंगलों में रहते थे शासकों के भी शासक थे । ब्राह्मशक्ति राज्यशक्ति को नियन्त्रण में रखती थी, इसीलिए तत्कालीन ब्रह्मवेत्ताओं का उद्घोष था—

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'

हमारा राजा यह प्रजा का वैधानिक प्रतिनिधि नहीं है । यह तो हमारी सुख सुविधा और रक्षा का साधन मात्र है । हम तो स्वयं इसके अंकुश हैं, नियामक हैं । फिर आपका राजा कौन है ? तो इस पर बताते थे—शान्तरस की अजस्र वर्षा करने वाला वह परमात्मा ही हमारा राजा है ।

इस प्रकार से सुनियन्त्रित सम्पन्न और नैतिकता के केन्द्र भारतीय सामाजिक वातावरण में सात्त्विकता गुनगुनाती हुई सी प्रतीत होती थी । श्रीमद्भागवत के रचयिता ने इन्हीं गुणों का स्मरण कर सम्भव है यह चर्चा

छेड़ी हो—इस लोक और परलोक को सुखमय बनाने वाली भारतमही तू धन्य है। दूसरे लोकों में रहने वाले भी इसी तेरी दिव्य विषशेता को देखकर प्रभु से यह ही प्रार्थना करते हैं—जगदीश ! हमारा भी दूसरा जन्म भारत में ही हो।

परन्तु हमारे इस सब दिव्य वातावरण के, इतनी श्री सम्पन्नता के और सरल जीवन के आधार एवं प्रेरणास्रोत क्या थे ? कौन-सी वे विभूतियाँ थीं जिनसे मर्यादित भारतीय जीवन शुभ, शान्त और सुन्दर प्रतीत होता था ? सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के गान कण-कण में प्रस्फुटित कैसे होते थे ?

वैदिक आर्यों ने आरम्भ से ही यज्ञ-दान और तप में अपने जीवन को केन्द्रित किया हुआ था और इन सब की भी आधार थी गौ। वैदिक संस्कृत की एक शब्द में व्याख्या कहीं करनी पड़े और उस शब्द का नाम गौ यदि रखा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यों तो गौ शब्द वाणी-पृथिवी-सूर्यरश्मि इन्द्रिय आदि कितने ही भावों का पर्याया-वाची है। लेकिन गाय के स्पष्ट दूध देने वाले पशु रूप को भी लें तो भी उसमें हमारी सारी पुनीत सांस्कृतिक भावनाओं का समावेश हो जाता है।

उसका परोपकारी जीवन, उसकी सौम्य आकृति, परिश्रमी रूप और शान्त वातावरण इन्हीं में तो हमारी संस्कृति का उद्गम है। न केवल वैदिक आर्यों ने अपितु ईश्वरीय ज्ञान वेद में भी 'गावो विश्वस्य मातरः' गाय को संसार की माता माना गया है।

यों तो माता शब्द अब अन्य भी बहुत से बोधक शब्दों के साथ जोड़ा जाने लगा है। परन्तु आदिकाल से तीन शब्दों के साथ तो इसका विशेष ही प्रयोग होता चला आया है। जन्म देने वाली जननी माता, जीवनभर माँ के स्तन्यपान के बाद दूध पिलाकर पुष्ट रखने वाली गौ माता और जीवन की समाप्ति पर जब एक तरफ से सब मातायें साथ छोड़ देती हैं उस अपनी गोद में चिरशान्ति की नींद सुलाने वाली धरती माता।

वैदिक कालीन ऋषियों ने प्रायश्चित्त का प्रकार परीक्षा का ढंग और शरीर शुद्धि के विधान में गौ सेवा को सर्वोत्तम स्थान दिया हुआ था। भारवि कवि का प्रायश्चित्त, सत्य-काम जाबालि की आन्तरिक परीक्षा, उप-मन्यु के जीवन का विवेचन, राजा दिलीप और उनकी देवी सुदक्षिणा की शरीर-शुद्धि का प्रकार महामुनि वशिष्ठ ने निरन्तर एका-ग्रचित से गौ सेवा ही निर्धारित किया था। गाय जहाँ स्वयं तपोमय है वहाँ अपने सेवा करने वाले को भी तपस्वी अर्थात् श्रम करने का आदी बना देती है।

बड़े-बड़े आलसी और प्रमादी व्यक्ति भी गाय के द्वार पर बंधते ही स्फूर्ति और प्रेरणा के प्रतीक से प्रतीत होने लगते हैं। आन्तरिक शुद्धि करता है उसका दूध और बाह्य शुद्धि करती है उसकी सेवा। यज्ञ और दान का तो मुख्य स्तम्भ ही गौ है। उसके अभाव में दोनों ही क्रियायें अधूरी हैं जिसका स्पष्ट प्रमाण आजकल का विशृंखल भारतीय जीवन है। जिस समय ब्राह्म मुहूर्त में ही वेद मन्त्रों के पवित्र उच्चार और यज्ञीय धूम से भारतीय

पुरजन और कानन भर जाते थे तब ही तो वेद मन्त्रों से साहसपूर्वक यह प्रार्थना की जाती थी—

"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु—
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्—
योगक्षेमो नः कल्पताम्" ॥ यजु०

अर्थात् हमारी अभिलाषाओं के अनुरूप ही बादल वर्षा करें। समय पर शरीर में रसपाक करने वाली औषधियाँ (अन्न) पककर राष्ट्रीय जीवन को सुखमय करती रहें। इस प्रकार योग और क्षेम से भारतीय जीवन भरपूर हो। परन्तु क्या आज के इस अपवित्र वातावरण में भी हम उस प्रार्थना को प्रभु से साहसपूर्वक करने के अधिकारी रह गये हैं? जहां दिन और रात मिलों और रेलों के अशुद्ध धूम से आकाश मण्डल भरा रहता हो और वेद-मन्त्रों की ध्वनि के नाम पर गाली झूठ और अपशब्दों के व्यवहार से वायु-मंडल तक भ्रष्ट हो उठा हो वहाँ योग-क्षेम के स्वप्न? असम्भव और महाअसम्भव।

वहाँ तो विनाश महामारी (संक्रामक रोग) और भय का वातावरण सदा रहेगा जो आज भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। भारत की अपनी सम्पत्ति यों तो पवित्र विचारों का संग्रह, सन्मार्ग में चलने वाली सन्तानें और स्वस्थ शरीर ही साधुजन कहते चले आये हैं, फिर भी भौतिक धन की ओर भी यदि दृष्टि उठाई जाय तो गोधन को ही सर्वोत्तम धन माना है।

आध्यात्मिकता की पुण्य-स्थली यज्ञ वेदी पर पुरोहित की सबसे बड़ी दक्षिणा गो ही होती थी। दानों में भी भौतिक दृष्टि से गो दान सर्वोत्तम दान माना गया है। ऋषियों के आश्रमों की शोभा ब्रह्मचारी और गो ही होते थे। जनक ने याज्ञवल्क्य को विद्या का पुरस्कार सोने से मढ़ी हुई सींगों वाली सहस्रों गाय देकर ही अपने नृपतित्व की सफलता मानी थी।

विवाह यज्ञ की पवित्र वेदी पर भी कन्या के वरण से पूर्व द्वितीय आश्रम-प्रवेश की भूमिका में कन्या के पिता वर को गाय देकर ही भारतीय मर्यादा को जीवित रखते थे। सोना-चाँदी, रुपया-पैसा यह इस देश में निकृष्ट कोटि के धन माने जाते थे। लोभ और लालच की ओर तेजी से दौड़ते हुए संसार को चेतावनी देने गये एक कवि ने सन्तोषी बनने का परामर्श देते समय जहाँ धनों की गिनती की है वहाँ गोधन को ही सर्वोपरि स्थान दिया है—

"गोधन-गजधन-वाजिधन,
और रत्न धन खान।
जब आवे सन्तोष धन,
सब धन धूरि समान॥

☐ यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि ब्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार इस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

—स्वामी विवेकानन्द

चिर-तारुण्य की साधना

श्री विनोबा विचार दर्शन

(पूज्य श्री विनोबा जी ने बाल-क्रीड़ा समारोह के अवसर पर सन् १९५१ में कहा था :)

तुम्हारे खेल देखकर आनन्द हुआ। देश का भविष्य तुम बाल-गोपालों के हाथ में है। तुमने जो खेल दिखाये वे किस लिए हैं ? शक्ति प्राप्त करने के लिए हैं, शक्ति किसलिए ? गरीब लोगों के लिए हम उपयोगी हो सकें।

शरीर घिसाने के लिए तगड़ा बनाना है। चाकू में धार किसलिए लगाई जाती है ? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जंग खा जाय; बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीर में धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चन्दन के समान घिस सकें। बल सेवा के लिए होता है।

गीता में श्री भगवान् ने कहा है, 'बल बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।' (बलवानों में वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूँ।) शब्दों में खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नहीं कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल'। इस वैराग्य-युक्त निष्काम बल की ही मूर्ति हम व्यायामशालाओं में रखा करते हैं। वह कौन-सी मूर्ति है ? हनुमानजी की पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति। हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बल के पुत्र थे। इसलिए वाल्मीकि ने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी महाबलवान था। लेकिन रावण में वैराग्य नहीं था। रावण का बल भोग के लिए था, दूसरों को सताने के लिए था। रावण पहाड़ उठाता था, वज्र तोड़ डालता था, दस आदमियों का बल मानो उस अकेले में था। इसलिए उसके दस मुँह बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूल में मिल गया। हनुमान का बल अजरामर हो गया।

वाल्मीकि ने बल की ये दो मूर्तियाँ, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावण के बल में भोग वासना थी। रावण बल के द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बल के द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवा को अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोग को अर्पण किया हुआ बल अपने और संसार के नाश का कारण होगा।

समुद्र के तीर पर सारे वानर बैठे थे। लंका में कौन जायेगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवन्त हनुमान के पास जाकर बोला, "हनुमान तुम जाओगे ?" हनुमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो, तो जाऊँगा।"

वह अकेला वानर किस शक्ति के बूते उन बलवान राक्षसों में निर्भय होकर चला गया ? हनुमान ने जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या जवाब दिया यह कि मैं अपने बाहु-

बल के जोर पर आया है। हनुमान बोला, "मैं राम के भरोसे यहाँ आया हूँ। मेरे बाजुओं में जोर है या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम। परन्तु राम का बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराई से सोचो, तो बाहुबल का भी क्या अर्थ है? बाहुबल के मानी है शारीरिक श्रम करने की शक्ति। इसी के लिए यह हाथ हैं। सेवा के लिए ही हम हस्तवान् हैं। पशु के हाथ नहीं हैं। भुजाओं के बल के प्रयोग से हम अन्न का निर्माण करें, सेवा करें। हमारी कलाइयों में यह जो सेवा करने की शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनुमान जानता था कि वह आत्मा की शक्ति है, राम की शक्ति है।

जिस बल की आत्मा में श्रद्धा न हो, राम में श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। अमृतसरमें कत्ले-आम हुआ। उसके बाद लोगों ने तेजोभंग करने के इरादे से, उन्हें शर्मिन्दा करने की मंशासे, रास्ते में पेट के बल चलाया गया, पहाड़ जैसे पंजाबी लोग, ऊँचे-पूरे, तगड़े डील-डौल वाले! लेकिन वे भी पेट के बल रेंगने लगे! क्योंकि राम में उनकी श्रद्धा नहीं थी। आत्मा की निर्भयता वे जानते नहीं थे। आज बंगाल में वही हाल है। लोगों पर मन-मानी पाबन्दियाँ लगाई जा रही है। रास्ते से फौज गुजर रही हो तो सलाम करने आना पड़ रहा है। क्या कारण है? आत्मा की निर्भयता गले नहीं उतरती। जिसने राम का बल पहचान लिया, वह कलिकाल से भी नहीं डरा करता। शरीर बल राम के लिए है। **वह सेवा के लिए है भोग के लिए नहीं है।**

दूसरी बात यह है कि भुजाओं में जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्म श्रद्धा पर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलों में भी आत्म श्रद्धा से बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धा का बल है, वह दूसरे सौ आदमियों को कंपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बल की उपासना चाहिए।

हनुमानजी में पशु बल नहीं था। हनुमान का जो स्तुति श्लोक है, उसमें दूसरे सारे बलों का वर्णन है, परन्तु शरीर बल का उल्लेख कहीं नहीं है।

यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यम्,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये॥

(मन के समान वेगवान, वायु के समान वेगवान, जितेन्द्रियों, बुद्धिमानों में वरिष्ठ, पवनसुत, वानरों के सेनापति, रामदूत की मैं शरण जाता हूँ।)

हनुमान मन और पवन के समान वेग-वान थे। वह जितेन्द्रिय थे। वह अत्यन्त बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे— इन सारी बातों का वर्णन है। हनुमान बल का देवता है। लेकिन इस स्तुति में बल का जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? परन्तु ये गुण ही वास्तविक हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्य में वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मन के समान वेग चाहिए, सामने काम देखते

ही उसे चट से आनन्द से छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ फतह करने का सन्देशा आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो, मन में सेवा की मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता; वह आलस में लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस काम का? ज्ञानेश्वर बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए? ज्ञानेश्वर कहते हैं—"आग मना-पुढे से दौड़ा'—शरीर मन के आगे-आगे दौड़ता है। कोई बात मन में आने से पहले ही शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीर इस तरह का वेग होने के लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेन्द्रियत्व चाहिए, इन्द्रियों पर काबू चाहिए। संयम के बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयम के साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमांबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा राम की सेवा की भावना चाहिए। जहाँ राम कहें, वहाँ जाने के लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिन्दुस्तान के करोड़ों देवता तुम्हारी सेवा के इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवा की जरूरत है। उस सेवा के लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, संयमी, सेवा के शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशाला के अखाड़े में कुश्तियाँ देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मण में हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभाव से आइन्दा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभाव का पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेले, जो कुश्तियाँ लड़े, उनमें से कल्याण होगा।

●

कालः क्रीडति

दिन-यामिन्यौ सायं प्रातः शिशिर-वसंतौ पुनरायातः
कालः क्रीडति गच्छति आयुः तदपि न मुंचति आशा-वायुः
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः
पुनरपि अयनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुंचति आशामर्षम्
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे

अर्थात्

दिन-रात, सुबह-शाम, शिशिर-वसंत फिर-फिर से आते रहते हैं। काल का खेल चल रहा है और हमारी आयु बीती जा रही है। फिर भी आशारूपी वायु (मनुष्य को) छोड़ती नहीं।

फिर रात, फिर से दिन, फिर से पक्ष, फिर से मास, फिर से अयन (उत्तरायण, दक्षिणायन), फिर से वर्ष (आते ही रहते हैं)—फिर भी आशा के आवेग को (मनुष्य) छोड़ता नहीं।

फिर से जन्म पाना, फिर से मरना, फिर-फिर से जननी के गर्भ में सोना—ऐसे सचमुच इस दुस्तर संसार में से हे मुरारे! कृपया मेरी रक्षा कर।

□ पं. शिवकुमार वैद्य शास्त्री

महापुरुषों के अनमोल बोल

1—क्षणिक क्रोध, अधैर्य, नैराश्य और आत्म-विश्वास की कमी ये नास्तिकता के चिह्न हैं।

2—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी माता के घर रहने पर भी स्वपति का स्मरण बराबर रखती है। इसी प्रकार श्रेष्ठजन अपने सांसारिक सर्व कार्य करते हुए भी परमात्म-देव में बराबर ध्यान लगाये रहते हैं।

3—संसार के प्राणी खराब नहीं हैं किन्तु मन अशुद्ध होने के कारण जगत् के सर्व मनुष्य विकार रूप में हमें दृष्टिगोचर होते हैं। जब तक मन अशुद्ध है, तब तक घृणा भाव दूर होना सम्भव नहीं होता।

4—यदि हम ईश्वर एवं वेद वाणी में श्रद्धा एवं विश्वास रखने वाले हों और यज्ञ एवं योग साधन के पालक हों तथा वर्णाश्रम व्यवस्था गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार मानने वाले हों तो हमारी प्रत्येक प्रकार की उन्नति में कोई शक्ति बाधक नहीं बन सकती है।

5—मन की स्थिरता एवं चिन्ता मुक्त चित्त के लिए शान्त वातावरण और एकान्त स्थान की आवश्यकता है। ईशचिन्तन से आस्तिकता का उदय होता है और नास्तिकता का नाश होता है।

6—संसार में रहकर सब काम करो। नौकरी, व्यापार, कृषि, अध्ययन आदि, किन्तु ध्यान रखो ! कहीं ईश्वर के लक्ष्य से तथा उसके आदेश से मन विमुख न हो जाय।

7—भगवान ही सब साधनों का साधन एवं साध्य है, उसकी सृष्टि के सब चराचर प्राणियों को देखो ! और उनसे प्रेम करो।

8—ईश्वर के दर्शन की इच्छा रखने वाले को उसके विधान में विश्वास रखकर उसकी सर्व आज्ञाओं का जीवन पर्यन्त पालन करते रहना चाहिए।

9—यदि हम अपने से छोटों की उन्नति में प्रसन्न होने के अभ्यासी रहें तो परम कल्याणकारी प्रभु हमारी प्रत्येक उन्नति में अवश्य सहायता करेंगे।

10—जिस प्रकार वृक्ष के मूल को सींचने से सारे पत्ते भी हरे हो जाते हैं। ठीक इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मदेव की भक्ति मात्र से ही देव मानव आदि भी सब प्रसन्न हो जाते हैं।

11—मन का बोझ हल्का करने का साधन ईश्वर चिन्तन है।

12—शुभ कर्मों में निर्भीक होकर होना विश्वास की सच्ची कसौटी है।

13—स्वर्ग और नर्क कोई विशेष स्थान नहीं है। सुख का नाम स्वर्ग और दुःख का नाम नर्क है।

14—ईश्वर के प्रेम का परिचय वाणी से नहीं मिलता है बल्कि उसकी आज्ञा पालन से विदित होता है।

15—जो सज्जनों को देखकर, दूसरों के सद्गुणों की बात सुनकर और दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं। उन पर भगवान की कृपा बरसती है।

16—परोपकार के लिए शरीर तथा धन दोनों का त्याग करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए।

17—यदि हमारा मन दूसरों की निन्दा करने या सुनने से प्रसन्न होता है तो समझो कि हमारा मन अभी शुद्ध नहीं है।

18—यदि संसार का सुधार करने से पूर्व हम अपना सुधार कर ले तो अन्य लोगों के कल्याण के साथ दूसरों के लिए हम आदर्श भी बन सकते हैं।

19—यदि हम आत्म निरीक्षण करने के अभ्यासी बनकर त्रुटियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जावें तो सर्वोत्तम रत्न बन सकते हैं।

20—यदि स्वजीवन में हम ईमानदार बने रहे तो हमें मृत्यु से भय नहीं हो सकता है।

21—मेरा शुभ कार्य ही मेरी संचित की हुई पूँजी तथा पैतृक सम्पत्ति है जो मृत्यु के पश्चात् भी बराबर चलती जावेगी।

21—जो धीर पुरुष असफलता और आपत्तियों से घिरा होने पर मन में विकार नहीं आने देते वे ही सच्चे महापुरुष होते हैं।

23—यदि जल में कोई काई हो तो उसमें अपनी एवं दूसरों की आकृति नहीं देखी जा सकती है। ठीक इसी प्रकार से जब मनुष्य की आत्मा पाप रूपी काई से आच्छादित हो रही हो तब मनुष्य अपने सही रूप को नहीं देख पाता और न दूसरों के महान् गुणों से ही समुचित प्रकार से परिचित हो पाता है।

24—जहाँ शारीरिक दुर्बलता चिन्तनीय है, वहाँ मन और बुद्धि की दुर्बलता महान् शोचनीय होती है, क्योंकि वह व्यक्ति के साथ-साथ समाज को भी दुर्बल बना देती है।

25—यदि मनुष्य की बुद्धि स्थिर है तो संसार भर की चंचलतायें भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती हैं।

26—सत्साहित्य वह है जो मनुष्य के हृदय में मानवता की भावनाओं को जागृत कर दे।

27—अहंकार की औषधि केवल विनम्रता है, जो अपने अहंकार को ही दूर नहीं करती, बल्कि दूसरों के अहंकार को भी शान्त कर देती है।

□ श्री राजेन्द्र प्रसाद पाठक

भावग्राही जनार्दनः

स्वजीव, संयोग जन्य सुख की लोलुपता से खुद ही माया में फंस जाते हैं। भगवान् का भाव तो जीव को मायाजाल से मुक्त करके अपनी शरण में लेने का होता है। वे कहते हैं कि—"मामेकं शरणं व्रज"। प्राणीमात्र के साथ भगवान की स्वाभाविक आत्मीयता, कृपालुता, प्रियता, हितैषिता, सुहृदता और निरपेक्ष उदारता स्वयं सिद्ध है, उन्होंने अर्जुन से कहा कि—'मद्भक्तो भव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु' के साथ ही साथ—'मामेकं शरणं व्रज' कहकर 'योगयुक्तो भवार्जुन' भी कहा।

उपरोक्त सभी बातों में भगवान का तात्पर्य केवल जीव को अपने सम्मुख कराने का ही है जिससे सम्पूर्ण जीव असत् पदार्थों से विमुख हो जाय क्योंकि दुःख, सन्ताप, बार-बार जन्मना-मरना मात्र विपत्ति आदि में मुख्य हेतु भगवान् से विमुख होना ही है। श्रीमद्भागवत महापुराण व्यक्त करता है कि—'जो प्रेमी भक्त भगवान के चरणों का अनन्य भाव से भजन करता है, उसके द्वारा यदि अकस्मात् कोई पाप कर्म बन भी जाय तो उसके हृदय में विराजमान परमपुरुष भगवान श्री हरि उसे सर्वदा नष्ट कर देते हैं।'

यथा

स्वपाद मूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तन्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनाति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥

(श्रीमद्भागवत 11/5/42

अतः शरणागत हो जाने से भक्त के पास कुछ बचता ही नहीं और न ही उसे कुछ करना शेष रह जाता है। शरणागत भक्त शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के प्रतिकूल परिस्थिति में भी भगवान की मर्जी समझकर प्रसन्न रहता है क्योंकि उसने सम्पूर्ण ममता वाली वस्तुओं सहित अपने आपको श्रीभगवान को ही समर्पित कर दिया है। ऐसी अवस्था में कठिन से कठिन और भयंकर से भयंकर घटना तथा परिस्थिति में भी श्रीप्रभु की महान् कृपा देखकर वह सदा प्रसन्न रहता है। प्रसंग में काकभुशुण्डिजी ने गरुड़ से अपने पूर्वजन्म के ब्राह्मण की कथा और लोमश ऋषि के द्वारा शाप-वश प्राप्त चाण्डाल पक्षी (कौआ) की बात बतायी। परन्तु काकभुशुण्डि के मन में थोड़ा भी भय नहीं हुआ बल्कि ईश्वरीय विधान समझकर कह ही बैठे कि "उर प्रेरक रघुवंश विभूषन" (मानस 7/113/1) और लोमश ऋषि द्वारा अनेकानेक आशीर्वाद प्राप्त कर सिद्ध कर दिया कि—"देखहु भजन प्रताप"।

'भजन प्रताप' शब्द का अर्थ है—भगवान के विधान में हर समय प्रसन्न रहना है। विपरीत से विपरीत अवस्था में भी प्रेमी

भक्त की प्रसन्नता अधिक से अधिक बढ़ती रहती है क्योंकि प्रेम का स्वरूप प्रतिक्षण वर्धमान बताया गया है यह तभी सम्भव है जब साधन करने में साधक निमित्त मात्र होकर साधन की सिद्धि में (भगवत्कृपा के ही, मुख्य रूप में) शरणागत भक्त के भाव में सन्निहित हो।

इतना ही नहीं बल्कि जो जीव मायापति भगवान के शरण हो जाते है वे माया से भी तर जाते हैं। तभी तो उन्होंने बताया कि—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"। (गीता 7/44)। तात्पर्य यह है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को लेकर सांसारिक जितने भी जाति, विद्या आदि भेद हो सकते है, वे सब उन पर लागू नहीं होते जो सर्वदा भगवान को अर्पित हो गये हों।

भगवान के अनन्य भक्तों के लिए नारदजी ने यह भी कहा कि—"भक्तों में जाति, रूप, विद्या, कुल, धन तथा क्रिया आदि का भेद नहीं है।" यथा—"नास्ति तेषु जाति रूप विद्या कुल धन क्रियादि भेद।" (नारद भक्ति सूत्र 72) क्योंकि भक्तिपूर्वक देने से वस्तु भक्ति रूप एवं भाव से प्रेम रूप हो जाती है अतः श्रीभगवान उस वस्तु को अवश्य आत्मसात् कर लेते है। कहा गया है कि जब मनुष्य पदार्थों की आहुति देते हैं तो दान हो जाता है उसी प्रकार भगवान को जो वस्तु अर्पित की जाती है उसमें भगवान के साथ उस वस्तु का सम्बन्ध हो जाता है इस प्रकार शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक, सामाजिक और परमार्थिक जितनी भी क्रियाएं है उन सबको श्री भगवान कहते हैं कि तू इन सभी क्रियाओं को मुझे अर्पण कर दे। ऐसा करने से सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वतः ही मेरे अर्पित हो जायेंगी।

"जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथा-साध्य वस्तु) भक्ति (भाव) पूर्वक मेरे अर्पण करता है, उसे मेरे में तल्लीन हुए अन्तःकरण भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुये उपहार (भेंट) को मैं खा लेता हैं।" यथा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे
भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि
प्रयतात्मन ॥

(गीता 26)

कितनी मार्मिकता है—श्री भगवान के इस वचन में। वे चार वस्तुएँ—पत्र, पुष्प, फल और जल के माध्यम से संकेत करते हैं कि—पत्र, पुष्प और फल—ये तीनों जल से पैदा होने के कारण जल के 'कार्य' है और जल इनका 'कारण' है इसलिए ये पत्र, पुष्प फलादि 'कार्य-कारण' रूप मात्र पदार्थों के उपलक्षण है, क्योंकि मात्र सृष्टि जल का कार्य है और जल उसका कारण है। अतः मात्र पदार्थों को ही भगवान को अर्पण करना चाहिए।

इस प्रकार भगवान के अपरा प्रकृति के दो कार्य हुए—पदार्थ और क्रिया। इन दोनों के साथ अपनी एकता मानकर ही यह जीव अपने को उनका भोक्ता और मालिक मानने लग जाता है परन्तु इन पदार्थों के भोक्ता और मालिक तो श्री भगवान है अतः वे इस भूल को दूर करने के लिये कह बैठते है कि पदार्थ (पत्र, पुष्प और फल) और सारी क्रियायें मुझे अर्पित कर स्वतन्त्र हो जाओ।

निदान, मनुष्य (जीव) में कर्म करने का अभ्यास तो रहता ही है, केवल उस (भक्त) को अपने कर्म भगवान को अर्पित करने में

वह कर्म बन्धन से सुगमता पूर्वक मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार के भाव न बनने के दो कारण बताये गये हैं—कामना और श्री भगवान या उनकी शक्ति को न पहचानना। इसके अलावा भी जब तक साधक के चित्त में पदार्थों का किञ्चित्मात्र भी आदर तथा अपने कहलाने वाले शरीर और नाम से अहंता ममता है, तब तक उसके लिए पदार्थों को मायामय समझकर उनका त्याग करना कठिन है क्योंकि देहाभिमान ही मुख्य बाधा है। अतः बताया है कि "देहाभिमानिनिसर्व दोषाः प्रादुर्भवन्ति।"

इस प्रकार देह में जितनी अधिक आसक्ति होती है साधन में उतना ही अधिक क्लेश मालूम देता है पर विवेक का आश्रय लेकर साधन करते हुए वह अपने ही साधन-बल को महत्त्व देता है। विवेक का आश्रय तभी प्राप्त हो सकता है जब—"भावग्राही जनार्दनः" की शक्ति की सदृश्यता श्रीगुरु कृपा से प्राप्त हो। अतः बताया है कि—"यदि पुरुष आत्मा को "मैं यही हूँ" इस प्रकार के विशेष रूप से ज्ञान जाय, तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामना से शरीर के ज्वर (ताप) से अनुतप्त हो? (अर्थात् समझने पर कभी हो ही न)।

आत्मानं चेद् विजानी यादयम
स्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कायाम शरीर
मनु संज्वरेत्॥
(बृहदारण्यक 4/4/12)

जीवन की सबसे बड़ी भूल

जीवन की सबसे बड़ी भूल यह रहती है कि हम सभी अपने जीवन-लक्ष्य को भूल जाते हैं। जीवन क्यों मिला है? हमें कहाँ किस ओर जाना है। इसका ध्यान ही हमें नहीं रहता, जीवन के ये मूल प्रश्न हैं जिनकी ओर से एक क्षण के लिए भी हमें उदासीन नहीं रहना चाहिए था। किन्तु जगत की मादक मोहमयी मदिरा पीकर हम ऐसे मतवाले और बौराये से मन बाने बन जाते हैं कि जो हमें करना चाहिए था वह नहीं कर पाते और जिसे नहीं करना चाहिए था उसे करने लग जाते हैं। उपनिषद् के ऋषियों की इस कल्याणकारी वाणी को भी हम हृदयङ्गम नहीं कर पाते कि संसार का मार्ग जिससे परे होकर हम अपने जीवन को ले चलने का प्रयत्न करते हैं, छुरे की धार के समान अत्यन्त नुकीला और तेज धार वाला है। इस पर अपने गुरुजनों का दिशाबोध लेकर जागरूकता और सावधानी का सम्बल लेकर जो चलते हैं वे ही सकुशल बिना कुछ खोये अपने लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं, दूसरे नहीं।

—स्वामी [illegible]

पुराणों में योगदर्शन

□ श्री हरिप्रसाद शास्त्री एम. ए. वेदाचार्य

योग का महत्व विश्व-विदित है। अति प्राचीनकाल अथवा सृष्टि के प्रारम्भिक समय से योग की अतिशय महिमा का वर्णन मनीषियों ने किया है। उदाहरणार्थ सृष्टि के विषय में "सूर्यचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत" इस कथन के अनुसार श्री ब्रह्मा जी ने योगबल से ही यथापूर्वक सृष्टि की कल्पना की थी।

भारतीय मनीषियों ने योगसिद्धान्तों के आधार पर ही स्वकीय एवं लोक-जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने का अधिक प्रयास किया है।

योग ही एक ऐसा सफल विज्ञान है जिसके द्वारा मनुष्य आभ्यन्तर एवं बाह्य रूप में सर्वथा पूर्ण स्वस्थ रहते हुये मानव जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त कर सकता है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में योग के विविध रूपों में दर्शन होते हैं। यथा-रामायण काल में रावण आदि अैदिक विद्वानों तथा वशिष्ट भरद्वाज आदि महर्षियों के क्रिया कलापों में तन्त्र एवं योग के प्रत्यक्ष दर्शन होते है।

वाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड में परमपूज्य रामभक्त श्री हनुमान जी के सीता के अन्वेषणार्थ लंका प्रस्थान के समय योग का आश्रय लेने का वर्णन मिलता है। जैसे।

निष्प्रमोणशरीरः

संलिलंघयिषुरर्णवम् ।

बाहुभ्यां पीड्यामास

चरणाभ्यांच पर्वतम् ॥

वा० सु० 1 सर्ग 11 श्लोक

अर्थात् लंकागमन के समय हनुमान जी ने समुद्र पार जाने की इच्छा से निष्प्रमाण शरीर होते हुए हाथों तथा चरणों से पर्वत को पीड़ित किया। और भी.

हनुमान पर्वताकारोवभूवाद्भुतदर्शनः ।

अर्थात् हनुमान जी पर्वत के समान आकार वाले एवं अद्भुत दर्शक हो गये।

उपर्युक्त उद्धरणों में निष्प्रमाण शरीर होना तथा पर्वताकार होना इत्यादि क्रियाओं का सीधा योग सिद्धियों से ही सम्बन्ध है।

इसके अनन्तर लंका मार्ग में हनुमान जी की भेंट सुरसा से हो जाती है। सुरसा हनुमान जी का भक्षण करना चाहती है, उसी समय हनुमान जी ने 10 योजन तक अपने शरीर का विस्तार किया था।

इत्युक्त्वा सुरसांक्रुद्धो

दशयोजनमायतः ।

दशयोजनविस्तारो

बभूव हनुमांस्तदा ॥

वा० रा० सु० 1 सर्ग 61 श्लोक

सुरसा ने भी हनुमान जी के शरीर को 10 योजन तक विस्तीर्ण देखकर अपने शरीर को बीस योजन तक विस्तृत कर लिया—"चकार सुरसावक्त्र विंशयोजनमायतम्" ॥ पुनः हनुमान जी ने अपना शरीर तीस योजन

तक बढ़ाया "हनुमांस्तु ततः क्रुद्धस्त्रिंशद योजनमायतः।" इसी क्रम में हनुमान जी ने अपने शरीर का नब्बे योजन तक विस्तार कर लिया। तब सुरसा ने भी अपने शरीर का 100 योजन तक विस्तार कर लिया था।

"चकार सुरसावक्त्रं शतयोजनमायतम्" तब हनुमान जी ने अपने शरीर को अंगुष्ठ मात्र का छोटा बनाया, तथा सुरसा के मुख में प्रविष्ट होकर बाहर निकल आये—
ससंक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इवमारुतिः।
तस्मिन् मुहूर्ते हनुमान बभूवांगुष्ठमात्रकः॥

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित उपर्युक्त सभी क्रियाएँ योग की अणिमा महिमा लघिमा आदि सिद्धियों से ही सम्बद्ध है।

लंका में पहुँचकर सीताजी के सन्देह को दूर करने की इच्छा से भी हनुमान जी ने योग का आश्रय लेकर स्वशरीर का संवर्द्धन किया था, जैसे :

स तस्मात् पादपाद्
धीमानाप्लुत्यप्लवगर्षभः।
ततो वर्द्धितुमारेभे
सीताप्रत्ययकारणात् ॥

वा. रा. सु. 1 सर्ग अ. 37-36

अन्यच्च—

मेरुमन्दरसंकणेवभौ दीप्तानलप्रभः।
अग्रतोव्यवतस्थेच सीताया वानरर्षभः॥
हरिः पर्वतसंकाशताम्रव क्त्रोमहाबलः।
वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत्॥

वा. रा. सु. 1 सर्ग अ. 37,37-38

अर्थात् सीता के समक्ष हनुमान ने मेरु और मन्दराचल पर्वत जैसा आकार धारण कर लिया और सीता से इस प्रकार कहने लगे।

ये सभी क्रियायें भी योग पर ही आश्रित हैं। इसके अनन्तर महाभारत में पांडवों के वनवास के समय हनुमान् जी ने गरिमा सिद्धि के द्वारा शरीर को इतना भारी बनाकर मार्ग में लेट गये थे कि महाबली भीमसेन उनकी पूँछ को भी किंचित्मात्र भी नहीं हटा सके थे।

महाभारत युद्ध के समय परम योगेश्वर भगवान् कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को योग का उपदेश किया तथा उनको दिव्यदृष्टि देकर अपने विराट् स्वरूप का दर्शन भी कराया था। "दिव्यंददामिते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्।" इन सभी प्रमाणों से योग की प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

भारत में महर्षि पतंजलि योगदर्शन के प्रमुख प्रणेता माने जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने स्वरचित योग सूत्रों को चार पादों में विभाजित किया है वह इस प्रकार है :

1. समाधिपाद, 2. साधनपाद,
3. विभूतिपाद, 4. कैवल्यपाद।

इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में भी अनेक योगियों एवं महायोगियों की अलौकिक लीलायें देखने और सुनने को मिलती हैं।

यहाँ पर मुख्यतया पुराणों में निर्दिष्ट योग के विषय में विचार प्रस्तुत करते हुए "अग्निपुराण" में उद्धृत योग का उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत अष्टांगयोग की भाँति "अग्निपुराण में" भी योग के आठ अंगों का ही वर्णन मिलता है, जैसे—यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान-धारणा, समाधि।

महर्षिपतंजलि के योगदर्शन में यम-नियमों का वर्णन इस प्रकार है :

यम—अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।

पा. यो. पाद 2 सूत्र 30

नियम—"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः"

इसी प्रकार अग्निपुराण में यम-नियमों वर्णन इस प्रकार है—

यम—अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः पंच स्मृताविप्र नियमाद् भुक्तिमुक्तिदाः॥
अग्नि. अ. 372 श्लोक 1

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। ये पांच यम होते हैं। हे विप्र नियमतः पालन करने पर ये भुक्ति एवं मुक्ति-दायक होते हैं।

इसी प्रकार नियमों के विषय में भी यह उल्लेख मिलता है:

शौच सन्तोष तपसी स्वाध्यायेश्वर पूजने।
—अग्नि. अ. 372 श्लोक 3

अग्नि पुराणान्तर्गत प्रमाण से शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर पूजन ये पांच नियम कहे जाते हैं।

अग्नि पुराणान्तर्गत यमों में अहिंसा का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है तथा अहिंसा में ही सभी प्रकार के धर्म की स्थिति कही गई है:

"एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमभिधीयते"

अहिंसा भी 10 प्रकार की कही गई है। जैसे उद्वेगजनन, सन्तापकरण, रोगोत्पादन, शोणितकृति, पैशुन्यकरण (चुगली) हितका-अतिनिरोध, मर्म का उद्घाटन परसुखव-नाश, संरोध तथा बध।

उक्त पुराण में यमों के अन्तर्गत सत्य का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है:

यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम्।

अर्थात् जो वचन प्राणिजगत् का अत्यन्त हितकारक हो, वही सत्य है।

अग्नि पुराण में प्रिय सत्य बोलने का ही निर्देश है अप्रिय सत्य का नहीं।

सत्यंब्रूयात् प्रियंब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्

इसके अनन्तर अस्तेय नामक यम के विषय में कहा गया है:

यद्वातद्वा परं द्रव्यमपहृत्य बलान्नरः।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतंहविः॥

अर्थात् जो व्यक्ति पराये धन को बल-पूर्वक हरण करके खाता है और जो बिना यज्ञ किये खाता है वह तिर्यक् योनि को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य

अग्नि पुराणान्तर्गत यमों में ब्रह्मचर्य का अति महत्वपूर्ण स्थान है, उसके विषय में इस प्रकार कहा गया है:

मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यं तदष्टधा।

अर्थात् मैथुन का सर्वथा त्याग ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। वह मैथुन आठ प्रकार का बतलाया गया है:

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुन मष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।

अर्थात् स्त्री संसर्ग से सर्वथा अलग रहना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के बिना सब क्रियायें निष्फल रहती हैं।

यथा—ब्रह्मचर्य क्रिया का मूलमन्त्र या विफला क्रिया। अपरिग्रह अग्नि पुराण में अपरिग्रह नामक यम के विषय में कहा गया है:

कौपीनाच्छादनं वासः
कन्थां शीतनिवारिणीम्।
पादुके चापिगृह्णीयात्
कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्॥

अर्थात् शरीर धारण मात्र के लिए कौपीनादि आच्छादन वस्त्र एवं शीत निवारणार्थ कम्बलादि तथा पाद रक्षार्थ जूते, खड़ाऊँ आदि के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का

संग्रह नहीं करना चाहिये । अन्नादि भी यथा सम्भव संग्रहणीय माना गया है ।

यहाँ तक योग के प्रथम अङ्ग यमों के विषय में विचार किया गया है । इससे आगे योग के अङ्गभूत नियमों के विषय में विचार किया जायगा ।

नियम—जैसा कि पूर्व में बताया गया है अग्निपुराण में शौचादि नियम पाँच होते हैं । सर्वप्रथम शौचका वर्णन है :

शौच—शौच दो प्रकार का बताया गया है—

आभ्यन्तर और बाह्य ।

यथा-शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तर-तथा ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धं रथान्तरम् ॥

अर्थात् मिट्टी एवं जल से बाह्य शौच एवं भाव शुद्धि से आभ्यान्तर शौच की क्रिया सम्पन्न होती है । और योगारूढ व्यक्ति के लिए दोनों प्रकार का शौच अत्यावश्यक है ।

सन्तोष—अग्निपुराण में द्वितीय नियम सन्तोष कहा गया है । सन्तोष का लक्षण भी इस प्रकार वर्णित है—"यथाकथंचित्प्राप्त्या च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते"

अर्थात् स्वेच्छया जो कुछ भी प्राप्त हो उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष कहलाता है । इसी विषय को पुष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी अर्जुन से कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ॥

अग्निपुराण में तीसरा नियम तप कहा गया है, और तप की परिभाषा भी इस प्रकार बताई गयी है :

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं तप उच्यते ।" ही तप कहलाता है मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना धर्म कहा गया है । वह तप भी अग्निपुराण में तीन प्रकार का कहा गया है :

1-वाचिक 2-मानसिक 3-शारीरिक ।

इन्हीं तीन प्रकार के तपों के विवेचन इस प्रकार हैं :

वाचिकमंत्रजप्यादि मानसं रागवर्जनम् ।
शारीरं देवपूजादि सर्वदन्तु त्रिधात्मकः ॥

अर्थात् मंत्रजापादि वाचिक, सांसारिक पदार्थों में राग-राहित्य, मानस एवं देवपूजा-आदि शारीरिक तप है ।

स्वाध्याय—

स्वाध्याय नियम के अन्तर्गत सत्शास्त्रों का अध्ययन एवं वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन तथा स्वेष्टमंत्रजपादि भी समाविष्ट होते हैं ।

ईश्वरपूजन—

अग्निपुराण में अन्तिम नियम ईश्वर पूजन के नाम से अभिहित किया गया है ।

अपने अभीष्ट देव (परमेश्वर) का अर्चा-वतार (मूर्ति) में तथा मानसिक पूजन भी कल्याणकर कहा गया है ।

इसी के साथ अग्निपुराण में प्रणव का भी अतिविशिष्ट महत्त्व बताया गया है—

वाङ्मयं प्रणवः सर्वंतस्मात् प्रणवमभ्यसेत् ।

अर्थात् प्रणव सब प्रकार का वाङ्मय है अतः प्रणव का अभ्यास (जप) करना चाहिए ।

यहाँ तक अग्निपुराण में वर्णित योग के अंग यम और नियम का ही विवेचन प्रस्तुत किया गया है । विस्तारभय से योग के शेषांगों का वर्णन अग्रिम [illegible]

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

मनोनिग्रह के उपाय

□ महर्षि रमण

नित्यवृत्तिमतां नृणां विसयासक्तचेतसाम् ।
वासनानां बलीयस्त्वान्मनो दुर्निग्रहे भवेत् ॥

जिनका चित्त विषयों में आसक्त है, जिनकी सतत बहिर्वृत्ति रहती है, ऐसे मनुष्यों की वासनाओं के दृढ़ होने के कारण उनका मन कठिनता से रोका जा सकता है।

चपलं तन्निगृह्णीयात्प्राणरोधेन मानवः ।
पाशबद्धो यथा जन्तुस्थता चेतो न चेष्टते ॥

मनुष्य उस चपलचित्त को प्राणायाम द्वारा रोके। जिस प्रकार पाश में बँधा पशु चेष्टा नहीं करता, उसी प्रकार प्राण रुद्ध होने पर मन निश्चेष्ट हो जाता है।

प्राणरोधेन वृत्तीनां निरोधः साधितो भवेत् ।
वृत्तिरोधेन वृत्तीनां जन्मस्थाने स्थितो भवेत् ॥

प्राण के निरोध से चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है; चित्तवृत्ति के निरोध से उसके जन्मस्थान आत्मा में साधक स्थित हो जाता है।

प्राणरोधश्च मनसा प्राणस्य प्रत्यवेक्षणम् ।
कुम्भकं सिध्यति ह्येवं सतत्-प्रत्यवेक्षणात् ॥

प्राणरोध का अर्थ प्राण की गति का अनुवीक्षण है। इस प्रकार सदैव प्राणगति का अनुवीक्षण करने से कुम्भक सिद्ध हो जाता है।

येषां नैतेन विधिना शक्तिः कुम्भकसाधने ।
हठयोगविधानेन तेषां कुम्भकमिष्यते ॥

जिनको इस क्रिया से कुम्भक साधने में शक्ति नहीं होती है, उनके लिए हठयोग की प्रक्रिया के अनुसार कुम्भक साध्य है।

एकदा रेचकं कुर्यात्कुर्यात्पूरकमेकदा ।
कुम्भकं तु चतुर्वारं नाडीशुद्धिर्भवेत्ततः ॥

रेचक को एक बार करे, पूरक को एक बार करे किन्तु कुम्भक को चार बार [illegible] इस प्रकार रेचक, पूरक और कुम्भक के अभ्यास से नाडी-शुद्धि हो जाती है।

श्री गुरु भाई-बहनों से विनम्र निवेदन

सभी गुरु भाई-बहनों से तथा उन अन्य सभी सुधी सुविज्ञ जनों से जिनका प्रगाढ़ सम्बन्ध गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के श्रीचरणों से रहा है और जो उनके द्वारा जन-जन के हितार्थ चलाई गई योग प्रवृत्तियों के पोषक और प्रचारक रहे हैं हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि वे उनके द्वारा संस्थापित पालित और पोषित योग सिद्धान्तों के एकमात्र प्रचारक 'सिद्धयोग' के वार्षिक और द्विवार्षिक ग्राहक स्वयं बनकर एवं अपने क्षेत्र में दूसरों को भी बनाकर अपने कर्त्तव्य का पालन करके गुरुदेव के चारु-चरणों में अपनी श्रद्धा और भक्ति भावना का परिचय दें। वार्षिक मूल्य 55 रुपया और द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया है।

आपका इतना सहयोग मात्र गुरुदेव के प्रति आपकी भक्ति भावना का परिचायक तो रहेगा साथ ही आपकी जीवन यात्रा को शान्त, सुखमय और स्वस्थ बनाये रखने का आवश्यक बोध भी सिद्धयोग के नियमित पठन-पाठन से आपको सहज ही सुलभ होता रहेगा। गुरुदेवजी द्वारा प्रज्वलित ज्ञानज्योति 'सिद्धयोग' नियमित प्रकाशन से जगमगाती रहे इसके लिए आपके कृपा पूर्ण सहयोग की हम सभी अपेक्षा रखते हैं।

कृपाकांक्षी :

सम्पादक, प्रकाशक तथा व्यवस्थापक
एवं आश्रमस्थ ब्रह्मचारी

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008, MAY, JUNE, 1993

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRNTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

बोध-विन्दु

बहुत से गुणों के होते हुए भी जिस व्यक्ति में आत्म-श्लाघा का रोग हो जाता है उसका दुःख रागद्वेष का घर बना रहता है। अतः आत्म-श्लाघा से बचना चाहिए।

× × ×

प्रत्येक कार्य को नियम पूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने से मन को सुख और शान्ति प्राप्त होती रहती है।

कम खाने, गम खाने और कसर खाने में पहले कुछ संयम और कष्ट करना पड़ता है पर अन्त में सुख और आर्थिक लाभ दोनों की प्राप्ति होती है।

× × ×

जीवन में सुख के दिन अधिक होते हैं और दुःख के कम। फिर भी अधीर बनकर हम दुख का रोना अधिक रोया करते हैं।

कथनी मीठी खांड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, विष से अमृत होय॥ —लोक श्रुति

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा